BIKHERE BEECHAR

BY

GANSHYAMDASS BHIDLA

बिखरे विचार

लेखक
घनश्यामदास बिड़ला

मिलने का पता
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
शाखायें—दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक
श्यामलाल एम० ए०
हरिजन निवास, किंग्स्वे, दिल्ली

संस्करण
मार्च १९४१ : १०००

मूल्य
जिल्दबँधी—दो रुपया
सादी—डेढ़ रुपया

मुद्रक
देवीप्रसाद शर्मा
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

दो शब्द

श्री घनश्यामदास बिड़ला की लिखी हुई दो पुस्तकें "बापू" और "डायरी के कुछ पन्ने" हिन्दी-संसार में आ चुकी हैं। "बिखरे विचार" बिड़लाजी के कुछ व्यक्तिगत पत्रों तथा उन लेखों का संग्रह है जो समय-समय पर "विश्वमित्र", "त्यागभूमि", "विशालभारत", "हरिजन-सेवक", "सरस्वती", "बिड़ला कालेज मैगजीन" आदि पत्र-पत्रिकाओं में आज से कुछ वर्ष पहले प्रकाशित हो चुके हैं—अन्तिम लेख "हीरा" इसी वर्ष की ताजी रचना है। उनके कुछ लेख ढूँढने पर भी नहीं मिल सके। बिड़लाजी की एक अपनी शैली और विचारधारा है। "देखत में छोटे लगें घाव करें गंभीर"—थोड़े शब्दों में मर्म की बातें कहना उनकी शैली का विशेष गुण है।

उनके दो लेख "मुझसे सब अच्छे" तथा "पानी में भी मीन पियासी" हिन्दी-संसार में काफी प्रसिद्ध हैं और बहुत-सी पाठ्य पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में उद्धृत हो चुके हैं।

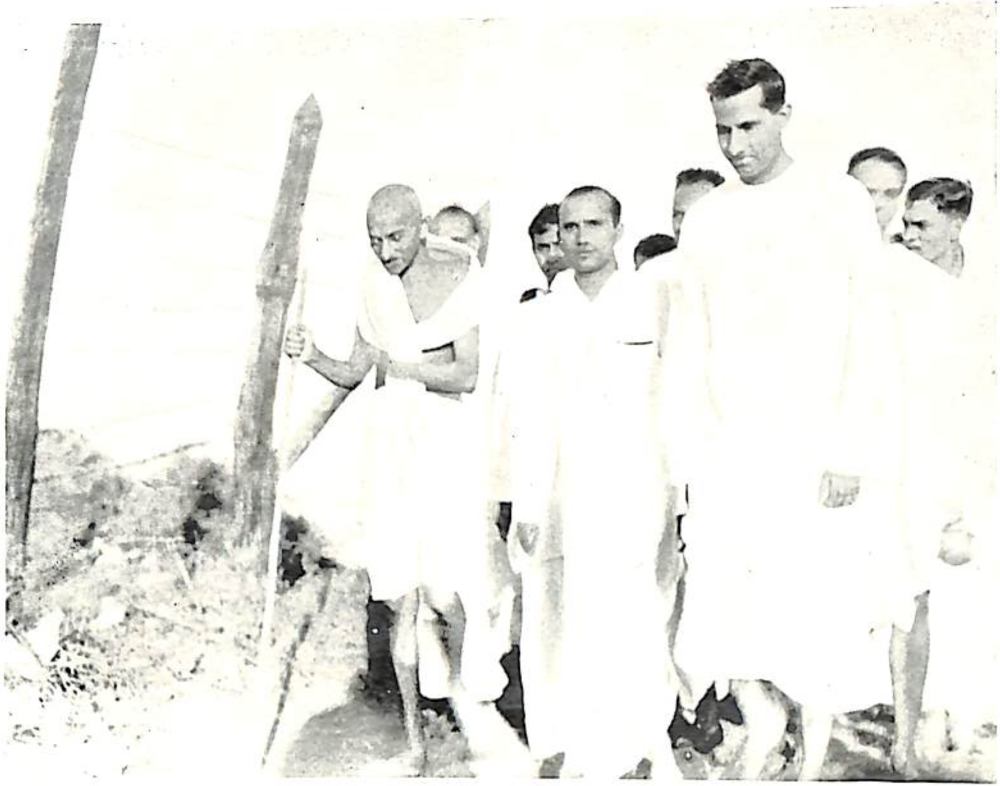
प्रकाशक

विषय-सूची

यात्रा-सम्बन्धी

महात्माजी-सम्बन्धी

बिखरे-विचार



लेखक : गांधीजी के साथ

(घूमते समय)

बिखरे विचार

यात्रा-सम्बन्धी

: १ :

पिलानी-कलकत्ता-दिल्ली

अबकी बार पिलानी से कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया तो मन में आया कि इस दफा नये रास्ते से चलना चाहिए, तदनुसार नारनौल के स्टेशन होकर जाना निश्चय हुआ। रास्ता अच्छा था। नारनौल प्रायः ढाई घंटे में पहुँच गये। मन में आया, यदि रास्ता मिल जाय तो रेवाड़ी पहुँचें, और फिर वहाँसे भी रास्ता मिल जाय तो सीधे दिल्ली मोटर से पहुँच जायें। दर्याफ्त करने पर लोगों ने कहा कि रेवाड़ी तक शाही रास्ता है। हमनें पक्का निश्चय कर लिया, किन्तु लारी अबतक पीछे ही थी। हमने सोचा १० मिनट में पहुँच जायगी। १० मिनट बीते, २० मिनट बीते, ३० बीते, परन्तु मोटर दिखाई न दी। रेवाड़ी का विचार तो अपनें आप

स्थगित हुआ। अब चिन्ता हुई कि कहीं रेल भी न छूट जाय। इतने में गाड़ी आ पहुँची; परन्तु लारी फिर भी नदारद। बच्चन ड्राइवर को मन में कोसा, किन्तु कोसनें से क्या होता था ? लारी तो न आई, और गाड़ी छूट गई। आखिर सवा घंटे बाद अपने अन्दर पड़े हुए असबाब को लेती हुई लारी पहुँची। विलम्ब का कारण बताया गया टायर का फटजाना। मन में विचार किया, फूट ही खराब करती है। सवा घंटे का विलम्ब केवल टायर के पंचर के कारण ! बच्चन पूज्य मालवीयजी का भी ड्राइवर रह चुका है। वहाँ जब मालवीयजी को इसने बेचैन किया तब उन्होंने इसका त्याग किया। किन्तु बच्चन से पूछो तो शायद अब भी यही समझता हो कि मालवीयजी ने उसे त्यागकर एक अमूल्य रत्न खो दिया।

अब दिल्ली कैसे पहुँचें, यह चिन्ता हुई। एक मालगाड़ी रेवाड़ी जाती थी। अंग्रेज़ डी० टी० एस० जो नारनौल आया हुआ था, उसे जब पता लगा कि मैं असेम्बली और रेलवे फाइनेन्स कमेटी का मेम्बर हूँ तो उसने मुझे मालगाड़ी में जगह दे दी। मालगाड़ी में बैठने की जगह तो होती नहीं, इसलिए बैठने को कुछ कुर्सियाँ भी दीं।

यह मेरा नया ही अनुभव था। मालगाड़ी जब चलती तो अच्छी कसरत-सी हो जाती थी। रेवाड़ी तो किसी तरह

पहुँच गये, किन्तु दिल्ली कैसे पहुँचें, यह चिन्ता हुई। रात को कोई गाड़ी दिल्ली नहीं जाती थी। स्पेशल के लिए पूछा, किन्तु कहा गया कि इंजन तैयार नहीं है। रेल के कर्मचारी चाहते थे कि किसी भी तरह कुछ मेरी सेवा कर दें, किन्तु कर न सके। आखिर रात-भर रेवाड़ी में ठहरना पड़ा और कलकत्ते की यात्रा एक दिन के लिए स्थगित रक्खी गई। कहाँ तो मोटर से सीधे दिल्ली पहुँचने का विचार और कहाँ रातभर रेवाड़ी में पड़े रहना ! इसी को कहते हैं, मनुष्य सोचता कुछ है और होता है कुछ और— 'Man proposes and God disposes.'

× × ×

कलकत्ते से प्रस्थान किया तो लोगों को ऐसा लगा मानो मैं सीधा जेनेवा जा रहा हूँ। स्टेशन पर अच्छी भीड़ थी। फूलों का खासा दुरुपयोग किया गया। मुझे भी वियोग की-सी झलक मालूम दी। मैंने सोचा कि चार महीने का वियोग इस तरह से खटकता है तो संसार से जब लोग विदा होते हैं तब मन में न मालूम क्या-क्या भाव उठते होंगे। किन्तु इसका उत्तर कौन दे ? मैंने तीन आत्माओं की अन्तिम विदाई देखी है। दो को तो अन्त समय तक पता न था कि उन्हें इस संसार को छोड़ना है; एक ने शान्ति से विदाई ली। ये तीनों मित्र आज भी मेरे हृदय

पर गहरे अंकित हैं और मुझे निरन्तर शान्ति देते हैं। मैंने अपने मन में उन तीनों से उनकी मृत्यु के बाद पूछा, "तुम्हें क्या हो गया? तुम्हारी गति थम क्यों गई? थोड़ी देर पहिले तुम्हारा शरीर हिलता था, अब यकायक मशीन बन्द क्यों हो गई?" उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु उनकी निश्चेष्ट शान्त प्रकृति नें स्पष्ट कहा—

पीपल पान खरंता हँसती कूँपलियाँ।
मम बीती तुझ बीतसी धीरे बापुड़ियाँ।

× × ×

बात मर्म की थी।

कलकत्ते से गाड़ी छूटी उस समय गर्मी ख़ासी पड़ती थी। मुझे रेल में प्रायः नींद कम आती है, इसलिए मैं तो रात में पढ़ने की तैयारी करने लगा। ब्रजमोहन को सो जाना अभीष्ट था। परन्तु ब्रजमोहन ठहरे अमीराना खानियत के आदमी। जबतक पंखा उनकी ओर अपना मुँह फेरकर हवा न दे तबतक उनको नींद कैसे आवे? बस उठे, एक पंखे को तो उसका कान ऐंठकर अपनी ओर फेर लिया, किन्तु दूसरे पंखे ने जरा हुकुम-अदूली की। बस फिर क्या था, दोनों में कुश्ती शुरू हो गई। पंखे ने साफ़ जवाब दे दिया कि हम किसी का पक्षपात नहीं करते, केवल तुम्हारी तरफ़ मुंह फेरकर हवा देना, यह ग़ुलामी हमसे न होगी। किन्तु

कोई सुनाई नहीं हुई। आख़िर उसने बेकाम बनकर अपनी शान रख ली। मैंने सोचा, चलो, अब शान्ति से पढ़ेंगे। ब्रजमोहन अपनी हार मानकर सो गया। किन्तु रात को जब-जब मैंने स्विच खोलकर पंखे से पूछा, "पंखे, तुम्हारा क्या हाल है?" तो उसने कराहते हुए अपनी करुण कहानी मुझे सुनाई। मुझे निश्चय है कि पंखे ने ब्रजमोहन पर मारपीट का मुकदमा दायर न करके अपनी उदारता का परिचय दिया। सुबह होते ही ब्रजमोहन ने पंखे से फिर छेड़छाड़ की। मैंने कहा कि अब गरीब को न सताओ। किन्तु ब्रजमोहन कब मानता था—स्टेशन-स्टेशन पर रेल-कर्मचारियों से कहता आया कि देखिए, पंखा बिगड़ गया है। यह किसी से न कहा, "मैंने पंखा बिगाड़ दिया है।" रेल के मिस्तरी आये और गये, किन्तु पंखा टस-से-मस न हुआ। मैंने पंखे की दृढ़ता पर उसे बधाई दी।

आख़िर उसने अपनी टेक और इज्ज़त रख ली।

× × ×

प्रातःकाल गाड़ी दानापुर पहुँची। सब लोगों की निद्रा भंग हुई। उठते ही ब्रजमोहन ने शिकायत की कि रात को उसकी आँख में इंजन के कोयले का टुकड़ा गिर गया। मास्टर श्रीरामजी ठहरे आयुर्वेदाचार्य। बात-की-बात में अनेक उपचार बताये गये; किन्तु दस बजे तक आँख में

रजकण वैसे ही बने रहे। मुझे भी पता लगा। मैंने पूछा कि रात को गाड़ी के बाहर सिर क्यों निकाला था? उत्तर मिला, सिर तो नहीं निकाला। मैंने पूछा, "तो क्या आँखें खोलकर सोते थे जो कंकरी गिर गई?" उत्तर मिला, "नहीं।" तब मैंने पूछा, "तो कंकरी ने आँख में प्रवेश कैसे किया?" कारण के अभाव में कार्य का उत्पादन कैसे सम्भव है? इस न्याय से यह निश्चय हुआ कि आँख गरमी के मारे दुखने लगी थी और कंकरी गिरने का केवल भ्रम था। गुलाबजल का उपचार किया गया, जिससे शीघ्र ही लाभ हो गया। इस सम्बन्ध में एक मज़ेदार कहानी सुनाई गई। एक पंडितजी थे। उनके तीन शिष्य थे—एक वैयाकरणी, एक वेदान्ती, और एक नैयायिक। एक रोज़ पंडितजी ने तीनों की बुद्धि की परीक्षा लेना स्थिर किया। आप घर से बाहर चले गये। पीछे से वैयाकरणी आया। पंडिताइन से पूछा, "पंडितजी कहाँ गये?"' पंडिताइन ने उत्तर दिया कि पंडितजी हाथी पर सवार होकर आकाश में भ्रमण करने गये हैं। वैयाकरणी ने सोचा कि ठीक है। वाक्य में कोई अशुद्धि नहीं है, इसलिए शंका की कोई बात नहीं है। वेदान्ती आये। उन्होंने भी यही प्रश्न किया और वही उत्तर मिला। सोचा कि माया प्रबल है। यह संसार माया से बना है, अघटित भी घटित हो सकता है। कोई

शंका की बात नहीं है। नैयायिक आये। उन्होंने भी पूछा और वही उत्तर पाया। किन्तु यह ठहरे तार्किक। उनको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जिरह शुरू की—"हाथी पंखों बिना कैसे उड़ सकता है? और बिना उड़े आकाश में भ्रमण असम्भव है।" आख़िर नैयायिक ने भ्रम को तोड़ा। हम लोग ख़ूब हँसे और कंकरी का उपचार बन्द करके आँख दुखने का उपचार प्रारम्भ किया।

इलाहाबाद में ब्रजमोहन ने गंड़ेरियाँ खरीदीं। जब खाने लगा तो मास्टरजी ने कहा, "यह बड़ी बुरी चीज़ है, कफ़ पैदा करती है।" इतना कह कर सतृष्ण आँखों से गंडेरियों की तरफ़ इस तरह ताकने लगे जैसे बिल्ली चूहे को देखती है। आख़िर मास्टरजी के हाथ में स्फूर्ति आई और धीरे-धीरे हाथ से कुछ गंड़ेरियाँ बटोर लीं। मैंने उनकी ओर ताका तो मास्टर साहब की सतृष्ण आँखें सशंक हो गईं। धीरे से आपने कहा, "पित्त के लिए ये बड़ी अच्छी हैं। मैं तो थोड़ी-सी खाऊँगा।" हम सब लोग हँसने लगे। गुरु की महिमा शास्त्रों में अगाध कही है। **"ऐसी करी गुरुदेव दया, मेरे भरम का भण्डा फोड़ दिया।"** हमारे मास्टरजी का भण्डा तो रोज़ फूटता है।

कुछ लोग स्टेशनों पर सोडावाटर, वर्फ, लेमन पीते नज़र आते थे। मैं जब लोगों को परमात्मा के बनाये

विशुद्ध जल को विकृत करके पीता देखता हूँ तो मुझे मन में आता है कि पानी के स्वाद की लोग पूरी क़द्र नहीं करना जानते। शायद लोगों में कला का अभाव है। पाठक जल को विकृत करके अपनी कला-विहीनता का परिचय न देंगे, ऐसी आशा है।

× × ×

एक नई बात यह देखी कि हमारे यात्रा-प्रदेश में कुल तेंतीस घंटे लगे, जिसमें साढ़े पांच घंटे का दिन रहा, बाक़ी साढ़े सत्ताईस घंटे की रात्रि रही। यह अजीब बात थी। इतने छोटे दिन भारतवर्ष में और किसी स्थान में नहीं होते। आपको शंका हो तो प्रमाण लीजिए। हम लोग फ़र्स्ट-क्लास के तीन यात्री थे, मैं ब्रजमोहन और मास्टरजी। मैं अपने आपको बाद दे दूँ तो बाक़ी के दोनों सुबह सात-साढ़े सात बजे उठकर पाखाना होकर साढ़े आठ बजे फिर सो गये, इसके बाद दस बजे उठकर ग्यारह बजे भोजन करके साढ़े ग्यारह बजे सो गये। शाम को साढ़े पाँच बजे उठे भोजन करके फिर आठ बजे सो गये और प्रातःकाल छः बजे दिल्ली में उठे। इस प्रकार वे तेंतीस घंटे में साढ़े पाँच घंटे जागे, बाक़ी साढ़े सत्ताईस घंटे सोये। सच भी है—

यस्याँ जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

मेरे जैसे भूतप्राणी जागते थे तब मास्टर साहब और

ब्रजमोहनजी जैसे मुनिजन सोते रहते थे। इन दोनों में भेद केवल इतना ही था कि ब्रजमोहन विरागासन में समाधि चढ़ाये हुए थे तो मास्टर साहब कुक्कुट-आसन में समाधिस्थ थे। एक भेद और था, मास्टर साहब की समाधि सविकल्प थी तो ब्रजमोहन बाबू निर्विकल्प रूप में समाधि में मगन रहे।

मई १९२७.

: २ :

स्टीमर में

हमारा स्टीमर कब चला और कब अदन पहुँचा, ये सब बातें करना समय नष्ट करना है। बहुत-से यात्रियों ने अपने भ्रमण के वृतान्तों में भिन्न भिन्न स्थानों का, वहाँ के मकानों का और रीति-रस्मों का काफ़ी वर्णन कर दिया है, इसलिए मैं अपने भ्रमण-वृतान्त में उन बातों को बराबर बचाता जाऊँगा जोकि अन्य लोगों द्वारा पहिले बताई जा चुकी हैं। अदन पहुँचने में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। समुद्र-यात्रा में सबको कब्ज़ रहता है, यह प्रथम ही अनुभव था; फिर भी अँग्रेज़ लोग तो प्रायः पाँच बार खाते हैं। हम लोगों को तो दो बेर खाना भी अच्छा नहीं लगता था। निरामिषाहारी हिन्दुओं को अन्य हिन्दुओं की अपेक्षा

खान-पान के मामले में अधिक कष्ट रहता है। मांसाहारी तो अंडे आदि खाकर निर्वाह कर लेते हैं, किन्तु हम लोगों की ख़ुराक ठहरी दूध और घृत। घृत तो साथ में है, किन्तु दूध का नितान्त अभाव है। बोटवाले डिब्बे का दूध देते हैं. यह स्वाद में तो दूध-सा ही होता है, किंतु तत्त्व में काफ़ी भिन्नता है। पकाने के लिए एक हिन्दुओं का और एक मुसलमानों का ऐसे दो अलग-अलग स्थान बना रक्खे हैं। किन्तु पकाने के स्थान में गरमी इतनी अधिकता से पड़ती है कि पकानेवाले को अत्यन्त कष्ट होता है। जो ऐसे हिन्दू हों जिन्हें छुआछूत का विचार न रहता हो, किन्तु शुद्ध निरामिषभोजी ही रहना चाहते हों, उनको भी कष्ट है, क्योंकि जहाज़ में बना हुआ कोई भी ऐसा निरामिष भोजन नहीं है जो निरामिष होने के साथ ही पौष्टिक भी हो। हिन्दुओं की आवागमन की वृद्धि हो, इस हेतु भोजन की समस्या को हल करना आवश्यक है। किन्तु इसमें भी कठिनाइयाँ हैं। यात्रियों में अधिक लोग तो ऐसे ही होते हैं जो कष्ट पाने पर अंग्रेजी भोजन को अपना लेते हैं। जो निरामिष-भोजी हैं, वे भी जहाज़ की रोटी, मक्खन और मुरब्बे से निर्वाह कर लेते हैं। बहुत से लोग प्रान्त-सम्बन्धी विभिन्नता के कारण वे भोजन में भी विभिन्नता रखते हैं। किसी को भात चाहिए, किसी को फुलके, किसी को

रोटी, तो किसी को पराठे। ऐसी हालत में सबके लिए भोजन की एक विधि निश्चित करना बहुत मुश्किल काम है। ऐसे खानेवाले भी एक जहाज़ में पन्द्रह-बीस से अधिक नहीं होते। साधारण लोग अपना नौकर रसोइया ले जायँ, यह तो साध्य नहीं है। इसलिए आम लोगों को सुभीता तो तभी हो सकता है जब दो पकानेंवाले ब्राह्मण जहाज़ पर बराबर रहें और पूरी, रोटी, दाल, भात इत्यादि नित्यप्रति शुद्ध निरामिषाहारियों के लिए बना दें। जहाज़ में पाँच-सात गायों का भी रहना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर आम लोगों को सुभीता हो सकता है। मैं इस सम्बन्ध में विलायत पहुँचने पर कम्पनी के मालिक इंचकेप से बातें करूँगा।

भोजन के कष्ट के अलावा तो और यहाँ कष्ट नहीं हैं। जहाज़ की सफाई-सुघड़ाई, सोने-बैठने की व्यवस्था प्रशंसनीय है। हाँ, काले-गोरे का भेद तो यहाँ भी है। भारतवासियों के साथ यद्यपि व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं है, तथापि जैसी नम्रता जहाज़ के नौकर अंग्रेज़ों के प्रति दिखाते हैं, वैसी भारत के प्रति नहीं। हम लोग भी अपनी इज्जत का ख़याल नहीं रखते। कपड़े पहनने, सफ़ाई में लापरवाही इत्यादि बातों से हमें भी बचना चाहिए। यह भी चाहिए कि हम लोग अंग्रेज़ों की किन्हीं त्रुटियों को न सीखें—चाय,

कॉफ़ी, शराब आदि मौके बेमौके पीना, ताश, शतरंज खेलना, पाँच दफ़े खाना, देर से सोना, देर से उठना आदि अंग्रेज़ों के दुर्गुणों से बचना चाहिए। भारतवासी अधिक-से-अधिक तीन वेर से ज्यादा भोजन न करें, कम मात्रा में खावें, अधिक मात्रा में पानी ही पीवें, समय से उठें और ठीक समय से सो जाँय, अधिक समय पढ़ने-लिखने में और जहाज पर टहलने में लगावें और नई-नई बातों का अन्वेषण करें, यह वांछनीय है।

× × ×

अदन में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। मुझे दिल्ली में जुकाम हुआ था, जो अदन तक सताता रहा। अब तबियत अच्छी मालूम देती है। दो-तीन दिन के बाद तबियत बिल्कुल दुरुस्त हो जायगी, ऐसी आशा है।

यहाँ विश्राम और शुद्ध वायु की ख़ासी बहुतायत है और इसलिए स्वास्थ्य के लिए हितकर है। अलबत्ता क़ब्ज़ की शिकायत रहती है। आज हम लोग लालसागर में चल रहे हैं। लालसागर बहुत चौड़ा नहीं है—कभी कभी किनारे भी दिखाई देते हैं, किन्तु समुद्र के भीतर बहुत-सी चट्टानें स्टीमर के दोनों ओर दिखाई देती हैं। बड़े-बड़े पहाड़ भी हैं, किन्तु सूखे पहाड़ों में न कोई जानवर, न पक्षी। न खाने का कोई सामान न पीने का। इसलिए सबके सब पहाड़ वीरान

हालत में हैं। इस समुद्र का नाम लालसागर क्यों पड़ा, इसका पता कोई नहीं बता सकता। समुद्र देखने में वैसा ही है जैसे और समुद्र। रंग बिलकुल नीला है और जल बिल्कुल स्वच्छ।

जहाज पर बहुत-से परिचित यात्री हैं। कल एक पार्लमेण्ट के मेम्बर से जो बड़ा धनिक व्यापारी है, जान-पहिचान हुई। हिन्दुस्तान से लौटकर आ रहा था। भारतवर्ष वहाँ की स्थिति देखने गया था। बड़े रद्दी विचारवाला आदमी था। मुझसे कहने लगा, तुमने असेम्बली में एक शिलिंग चार पेन्स के पक्ष में क्यों आन्दोलन किया? मैंने उसको बताना शुरू किया। पर बीच में ही वह कहने लगा, सरकार ने जो कुछ किया अच्छा किया, किन्तु मैं पूरा इतिहास नहीं जानता। मैंने कहा कि हमारा दुर्भाग्य है कि तुम अनभिज्ञ भी हो और हमसे बहस भी करना चाहते हो। मैंने उससे कहा कि मैं आपसे कुछ सवाल करता हूँ, आप उनका उत्तर दीजिए। मैंने पूछा, "क्या आप कोई ऐसा देश बता सकते हैं, जहाँ रुपये का निर्धारित मूल्य इस तरह बदला गया हो?" उसने कहा कि एक शिलिंग चार पेंस निर्धारित मूल्य नहीं था। मैंने कहा, यह आपका अज्ञान है, जो आप ऐसा समझते हैं। उसने कहा कि जब विनिमय की दर एक शिलिंग छः पेंस थी तो फिर एक शिलिंग चार पेंस क्यों की जा सकती थी? मैंने पूछा, क्या विलायत में डालर-स्टर्लिंग एक्सचेंज

जब नीची हो गई थी तब किसी ने नीची दर बाँधने के पक्ष में राय दी थी ? मैंने फिर पूछा, "क्या आपको पता है कि एक शिलिंग छः पेंस कैसे बनाई गई ? भारतमंत्री और भारत-सरकार में कैसे-कैसे तार आपस में भुगते ?" उसने कहा कि मैं कुछ नहीं जानता ? मैंने फिर पूछा, "क्या आपको पता है कि एक शिलिंग छः पेंस को टिकाने में कितना सोना बेच डाला गया है ?" उसने कहा कि मैं इन बातों को नहीं जानता। उसने बात को टालकर राजनीति पर बहस करना शुरू किया। उसने कहा, हम भारतवर्ष से काफी परेशान हो चुके हैं। मैं जाकर विलायत में सरकार को सलाह देने वाला हूँ कि चार साल के भीतर हिन्दुस्तान को खाली करदो और फिर हिन्दू-मुसलमानों को आपस में झगड़ने दो। मैंने कहा कि आपके विचार बड़े विचित्र मालूम होते हैं। मुझे तो अंग्रेज़ ऐसे मूर्ख नहीं मालूम होते कि भारतवर्ष को इतना जल्दी खाली करदें। उसने कहा कि हम अवश्य खाली कर देंगे और एक भी अंग्रेज सिपाही भारतवर्ष में नहीं रहने देंगे, क्योंकि अंग्रेज़ सिपाही हिन्दुस्तानियों के पास रहना पसन्द नहीं करते। मैंने उससे कहा कि मुझसे जान लीजिए, मेरे यहाँ दस अंग्रेज़ काम करते हैं और यदि मैं चाहूँ तो एक सौ सत्तर और रहने को तैयार हैं। उसने पूछा कि अगर हम हिन्दुस्तान छोड़ दें तो

हिन्दू-मुस्लिम दंगों का क्या हाल होगा ? मैंने कहा, दंगे भी तो आप ही कराते हैं। आपके जाने के बाद कोई दंगा भी नहीं होगा। मैंने फिर कहा, देशी रियासतों में दंगे क्यों नहीं होते ? उसने कहा, देशी रियासतें या तो हिन्दू राज हैं, या मुस्लिम राज, इसलिए दंगे नहीं होते। मैंने कहा, अच्छी बात है। हम भी तुम्हारे जाने के बाद पंजाब और बंगाल में मुस्लिम राज और बाक़ी भारतवर्ष में हिन्दू राज स्थापित कर देंगे। उसने कहा, तुमने बड़ी अक़लमंदी की बात कही। बहुत देर तक बातें होती रहीं। आदमी धनी है और प्रभावशाली भी मालूम होता है। मुझे यह दिखाना चाहता था कि अंग्रेज़ भारतवर्ष में हमारी भलाई के लिए रहते हैं।

रात को सर कावसजी जहाँगीर मिले। कहने लगे कि तुमने मुझे सात लाख का घाटा दिला दिया। मैंने पूछा—कैसे ? कहने लगे कि तुमने मेरी 'डायमन्ड मिल' पचपन लाख में खरीदकर फिर सौदा कैन्सिल कर दिया, फिर वही मिल अड़तालीस लाख में बिकी। मैंने कहा कि मुझे इसकी कोई जानकारी नहीं। जयपुर के पुराने रेज़िडेन्ट कर्नल बेन भी इसी स्टीमर पर हैं। उनसे भी बहुत देर तक बातें हुईं। महाराजा डंगरपुर भी इसी स्टीमर में जा रहे हैं।

मई १९२७.

: ३ :

हम पराधीन क्यों हैं ?

जबसे जहाज़ पर पाँव रक्खा है तभी से मैं इस बात का मनन कर रहा हूँ कि हम इतने गिरे हुए, पिछड़े हुए, पतित और परतन्त्र क्यों हैं, और यूरोपीय लोग बढ़े-चढ़े, सुखी, सहृदय और स्वतंत्र क्यों हैं ? हालांकि पन्द्रह साल से मैं अंग्रेजों के सहवास में हूँ, पर सिवाय मेरे जानकार लोगों के व्यक्तिगत गुणदोषों के, यूरोपीय जाति में जातिगत गुण-दोष क्या हैं, इनका मुझे विशेष ज्ञान अब तक न था। इसका यह भी कारण है कि भारत में हमारे शासकगण अपने ऐबों को तो अत्यन्त सावधानी से छिपाते ही रहते हैं; किन्तु अपने अच्छे गुणों को भी इसलिए छिपाते हैं कि जिसमें हम उनकी नक़ल करना न सीख लें।

उदाहरणार्थ, प्रत्येक आइरिश भारत में अपनी देशभक्ति को इसलिए छिपाता है कि हम उसकी देखा-देखी देशभक्ति करना न सीख लें। कलकत्ते में अंग्रेज़ लोग व्यापार में जिस प्रकार अपने इष्ट-मित्रों को सहायता देते हैं, उसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है, अंग्रेज़ लोग उसे छिपाकर "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" का पाठ इसलिए पढ़ाते रहते हैं कि जिसमें हम उनकी नक़ल न करें और अपने इष्ट-मित्रों को ही अधिक सहायता देना अपना कर्तव्य न समझें। इन गुण-दोषों को छिपाने के लिए ही अंग्रेज़ों ने भारत में अपने जुदे क्लब, आरामघर इत्यादि बना रक्खे हैं। किन्तु जहाज़ में पाँव रखते ही यह 'गोपनीयं गोपनीयं' की दीवार टूटने लगती है, और लन्दन पहुँचते-पहुँचते तो पर्दाफाश होकर अंग्रेज रहन-सहन, जीवन, आचार-विचार इतना स्पष्ट दीखने लगता है कि यदि तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन किया जाय तो हममें क्या कमी-वेशी है, इन सब बातों का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हाँ, इसमें विवेक की तो आवश्यकता है ही। संभव है जिसे मैं गुण समझूँ उसे दूसरे लोग दुर्गुण समझें। अछूतपन को जहाँ गांधीजी पाप समझते हैं, पुरानें विचार के कट्टर लोग उसे ही हिन्दू-धर्म का आभूषण मानते हैं ! अतः पाठक भी अपनी विवेक-बुद्धि

से निरीक्षण-विवेचन करते जायँ। आख़िर मैंने सब कुछ अपनी बुद्धि के अनुसार ही तो देखा है। हाँ, जान-बूझ कर अपनी ओर से रंग नहीं चढ़ाया है। अस्तु,

जहाज़ में मैंने अंग्रेज़ महिलाओं को पहले-पहल नंगे सिर देखा। मुझे यह तो पता था कि बाल काटने का फ़ैशन अंग्रेज़ औरतों में भी आगया है; किन्तु सभी देवियों ने अपने सिर का बोझ हलका कर लिया है, इसका मुझे पहले-पहल जहाज़ में परिचय हुआ। न जाने क्यों औरतों के मरदाने बाल और उनको स्वतन्त्रता से धूम्रपान करते देख मेरे चित्त में चोट लगी। यह चोट और भी दुःख देने लगी, जब मैंने कुछ भारतीय देवियों को भी कटे बाल और धुँए से आच्छादित पाया। दिन भर शराबख़ोरी, पाँच-पाँच बार का भोजन, रात में नाचरंग, पानी की जगह शरबत मिली हुई शराब, देर से सोना, देर से जागना, ताश खेलना और ऐशो-इशरत में डूबे हुए अंग्रेज़ स्त्री-पुरुषों को देखकर बार-बार मेरे चित्त में यही संकल्प-विकल्प होने लगे कि क्या इस जाति का शीघ्र ही नाश होनेवाला है ? इनमें कौन-से गुण हैं, जिन्होंने इन्हें संसार का स्वामी बनाया ? "**यतो धर्मस्ततो जय:**" के चमत्कार का मैं श्रद्धालु हूँ, किन्तु यहाँ तो जय होते हुए भी धर्म नहीं है, ऐसा मुझे विश्वास होने लगा। बार-बार

मुझे यह विचार आने लगा कि या तो मैं जो देख रहा हूँ वह सत्य नहीं है, या **'यतो धर्मस्ततो जयः'** सत्य नहीं है; या हम दुःखी और ये सुखी नहीं, अथवा इनका पाप पाप नहीं और हमारा धर्म धर्म नहीं।

मैं स्टीमर पर रोज़ रातदिन इसी उधेड़-बुन में लगा रहता था। महात्माजी को भी मैंने अपने संकल्प-विकल्प लिखे, अन्य मित्रों को भी लिखे। मैं हठात् इस निर्णय पर पहुँच सकता था कि यह जाति तो मृत्युलोक में नरक ला रही है। शीघ्र ही पृथ्वी इनके पापों के बोझ से दब कर देवताओं-सहित किसी कन्दरा में जा छिपेगी और वहाँ आकाशवाणी द्वारा श्री विष्णु भगवान् पृथ्वी सहित ऋषि-मुनि और देवताओं को आश्वासन देने जायँगे कि "हे पृथ्वी! चिन्ता न कर, मैं शीघ्र ही काशी नगरी में अमुक ब्राह्मण के घर जन्म धारण करके तेरे भार को हलका करूँगा। जा, तेरा कल्याण हो! और हे देवताओ, तुम भी काशीपुरी में जाकर नाना रूप देह धारण करो और मेरे सहवास में रहकर धर्मस्थापन करने में सहायक बन कर कल्याण को प्राप्त होओ।" किन्तु मैं इस निर्णय पर कैसे पहुँचता? जर्मन-युद्ध में इन्हीं शिखा-विहीन महिलाओं ने अपने ऐहिक सुखों को लात मार कर किस शौर्य और अदम्य उत्साह के साथ अपने देशी सैनिकों की

सेवा करके उन्हें सुख पहुँचाया था, इस घटना को क्या कोई भूल सकता है ? इतना ऐशो-आराम होते हुए भी आंग्ल-जाति मौक़ा पड़ने पर देश और जाति की मर्यादा के लिए किस प्रकार अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकती है, इससे मैं भलीभाँति परिचित था। अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए अमीर-ग़रीब सब किस प्रकार मर-मिटने को तैयार हैं, इसका मुझे पूरा ज्ञान था। जहाँ भोग की लालसा और विषय सुख की तृष्णा की इनमें अधिकता थी, वहाँ शौर्य, उत्साह, धैर्य, सचाई हम लोगों से कहीं अधिक इनमें देखने में आई। इसके विपरीत हम तो आज पूरे कायर बन गये हैं। बलवान् की चापलूसी करते हैं, ग़रीब पर ज़ुल्म करते हैं। अपनी स्त्रियों की रक्षा और देश, जाति-धर्म के प्रति अत्याचारों का सामना करने की असमर्थता को हम 'क्षमा' का सुन्दर नाम देकर फूले नहीं समाते। अपनी अकर्मण्यता एवं आलस्य का परिचय **'जो प्रभु कीन्हों सो भला कर मान्यो, यह सुमति साधु से पाई'** नानकजी का यह सुन्दर पद गाकर देते हैं। जब अपनी कायरता को ढकना चाहते हैं तो **'नहिं कोई वैरी नहिं बेगाना, सकल संग हमरी बन आई'** यह कहकर संसार को धोखा देते हैं। हमारा अपरिग्रह 'वृद्धा नारी पतिव्रता' की तरह रह गया है। इस हालत में मैं कैसे

निर्णय कर लेता कि हम धर्म की वृद्धि कर रहे हैं और श्वेतांग लोग पाप की ?

परन्तु ये तो मेरी जिज्ञासा की शान्ति की बातें नहीं हुई। इस प्रश्न को मैं जहाज़ से उतरने के बाद भी रटता रहा कि हम क्यों गिर गये हैं, ये क्यों चढ़ गये हैं ? हमारी गीता के होते हुए, हम ऋषि-मुनियों की सन्तान होते हुए, हम आर्य हिन्दू होते हुए, हम राम-कृष्ण के उपासक होते हुए परतन्त्र क्यों हैं, दरिद्र क्यों हैं; और ये स्वतन्त्र क्यों हैं, सुखी क्यों हैं ? जब मैं इसी उधेड़-बुन में लगा हुआ था, मेरे एक परम सम्मानित बुजुर्ग नेता ने मुझे पत्र लिखा। पत्र बहुत लम्बा था; किन्तु सारांश यह था कि "भारत के धर्म ने भारत का सत्यानाश कर दिया, हमारी क्षमा और अहिंसा ने हमें मेमने की तरह ग़रीब बना दिया; फलस्वरूप आज हमारे पाँवों में परतन्त्रता की बेड़ियाँ पड़ी हैं, लोग दुःखी हैं, दरिद्र हैं। जहाँ तृष्णा नहीं, लोभ नहीं, उच्चाभिलाषा नहीं, वहाँ लोग क्या काम करेंगे, क्या साहस करेंगे ? गांधीजी ने भी लंगोटी और त्याग सामने रखकर जनता को कर्मण्य बनाने में सहारा नहीं लगाया। मेरे चित्त में तो यही आता है कि मैं देश की सामयिक स्थिति में विप्लव पैदा कर दूँ। लोगों के सामने त्याग का ही

आदर्श न रखकर कुछ भोग का भी आदर्श रक्खूँ।"

जहाँ मैं पहले ही से उलझन में फँसा था, वहाँ इस पत्र ने मेरे सामने एक और नई पहेली रखदी। किन्तु मैं इस निर्णय पर नहीं पहुँच सका कि अहिंसा, वैराग्य, सन्तोष, क्षमा, अपरिग्रह इत्यादि उच्च आदर्शों के कारण ही हमारा देश गिर गया है, क्योंकि तब तो हमें एकबारगी ही इन आदर्शों का मूलोच्छेदन करके हिंसा, भोग, लोभ, क्रोध इत्यादि विरुद्ध धर्मों को इनके स्थान में प्रतिष्ठित कर देना चाहिए! किन्तु कौन-सा ऐसा प्रमाण है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारत की दुर्गति इन आदर्शों के कारण हुई ? बहुत-से मित्र गांधीजी की समालोचना में कहा करते हैं कि वैराग्य ने हमारे देश को तबाह कर दिया। किन्तु महाभारत-काल से यदि हम भारत के अधःपतन काल की शुरूआत समझें तो क्या कोई कह सकता है कि उस समय अहिंसा, वैराग्य, क्षमा का दौर-दौरा था ? लोग शराबी और ऐयाश बिल्कुल न थे ? यदि पृथ्वीराज के समय से भी भारतवर्ष का विशेष अधःपतन मानें, तो कोई यह नहीं बता सकता कि पृथ्वीराज ने कब त्याग, वैराग्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह को अपनाया था। उसके पीछे भी अबतक कब हमने वैराग्य, अहिंसा, सत्य, सन्तोष की उपासना की ?

हाँ, यह सत्य है कि भारतवर्ष के इस उच्च आदर्श के कारण हमारे यहाँ बड़े-बड़े अवतार, ऋषि-मुनि, वीर-धीर, विद्वान्, भक्त, ज्ञानी, संतोषी, ब्रह्मचारी होगये हैं, जिन्होंने भारत का मुख उज्ज्वल किया है। आज भी गांधीजी जैसे महात्मा और मालवीयजी जैसे क्षमाशील महापुरुष हमारे बीच में बैठे हैं, किन्तु इतिहास पुराणों का कोई भी पन्ना उलट के देखे तो कोई ऐसा समय नहीं मिलेगा कि जब भारत के सारे-के-सारे राष्ट्र ने अहिंसा या सन्तोष को राष्ट्र-धर्म माना या अपनाया हो। इस हालत में इन उच्चादर्शों को कोसना, और हमारे अध:पतन का कारण मानना, ग़लत निदान है। असल बात तो यह है कि हम लोग भ्रम में पड़े हैं। हम अपनी अकर्मण्यता को सन्तोष, कायरता को अहिंसा, दरिद्रता को अपरिग्रह, भय को क्षमा, बाह्योपचारी रुढ़ियों को धर्म, अज्ञान को शान्ति, आलस्य को धृति मान बैठे हैं और इसीमें अपना गौरव समझते हैं। वास्तव में हम तमोगुण में डूबे पड़े हैं और पाश्चात्य लोग रजोगुण में गोते खाते हैं। सतोगुण को न हम पा सके हैं, न पाश्चात्य लोग। भेद इतना ही है कि हमारे पूर्वज ऐसी सम्पत्ति छोड़ गये हैं कि उसके बल पर आज सत्व का गुणगान करते हैं। उसकी उपासना को श्रेष्ठ मानते हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग कहते

हैं कि सतोगुण किसी देश या जाति ने सामूहिक तौर पर नहीं अपनाया, न अपना सकते हैं, इसलिए उसे आदर्श मानने से कोई लाभ नहीं। सतोगुण की भूल-भुलैयाँ में पड़कर कहीं हमारे लोग तमोगुण में न डूब जावें, इसलिए अच्छा यही है कि सार्वजनिक आदर्श 'युद्ध' ही रहे। हाँ, जो लोग व्यक्तिगत रूप से चढ़ना चाहें वे **'मामनुस्वर युद्‌ध्य च'** इस मन्त्र को मानें, किन्तु 'युद्‌ध्य' इस मंत्र को कोई न भूलें।

आदर्श हमारा ऊँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं--पर साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि हममें आज सत्व और रज दोनों का अभाव है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।

ये तमोजन्य सारे रोग हममें पाये जाते हैं और **'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्‌भवम्'** और **'लोभः प्रवृत्ति-रारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।'** ये रजोजन्य संस्कार अंग्रेज़ों में पाये जाते हैं। जिस तरह गांधीजी कहते हैं कि यदि अपने धर्म की, मन्दिरों की, बाल-बच्चों की, देवियों की रक्षा हम अहिंसा से नहीं कर सकते तो कायरता से तो हिंसा अच्छी; उसी तरह यह भी क्यों न सिखाया जाय कि यदि सतोगुण प्राप्त करके **'सुखं संगेन बध्नाति'** का

अमृतपान नहीं कर सकते तो तमोगुण से तो **'कर्म संगेन बध्नाति'** ही अच्छा है ? तमोगुण का नाश यदि वांछनीय है तो उसका नाश तो हो, खाने को रोटी तो मिले, क्योंकि

'भूखे भगति न होहि गोपाला ।'

हमारी यह दुर्दशा क्यों है ? इसका साधारण उत्तर तो इस तुलनात्मक विचार में मिल गया। किन्तु हम पराधीन कैसे हुए और पाश्चात्य लोग स्वाधीन क्यों हैं, इसका उत्तर तो हमारी और उनकी मनोवृत्तियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। राजा माँ-बाप है, प्रजा सन्तान है, यह कहानी हमें हज़ारों पीढ़ियों पहले से पढ़ाई गई। फल यह हुआ कि जो राजा वही माँ-बाप। देशी-विदेशी का भेद हमारे यहाँ कभी न रहा। पाश्चात्य लोगों को सभ्यता मिली स्वतन्त्रता के लिए मर-मिटने वाले रोम से। नतीजा यह हुआ कि जहाँ National (राष्ट्रीय), Patriotism (देशभक्ति), Democracy (प्रजातन्त्र), Public spirit (सेवाभाव), Citizenship (नागरिकता), Public duty (सार्वजनिक कर्तव्य) इन शब्दों का तात्पर्य वहाँ का बच्चा-बच्चा जानता है, वहाँ हमारे यहाँ इन शब्दों के अर्थ से आज भी लोग अनभिज्ञ हैं। जिन राणाप्रताप और शिवाजी की हम जयन्ती मनाते हैं, उन्होंने भी धर्म के लिए तो जहाद की; किन्तु देश के लिए किसी ने लड़ाई

नहीं लड़ी । इसी तरह धर्म के नाम पर मर मिटनेवाले तो भारत के इतिहास में हज़ारों मिलेंगे, किन्तु देश के लिए हड्डी देनेवाला दधीचि तो एक-आध ही मिलेगा । नतीजा वही हुआ जो होना था । पश्चिम से विजेता आते गये, और जो नया विजेता आया, हमने उसका सोने के थाल से स्वागत किया। इस तरह से हमने बहुत से विजेताओं को पचा भी डाला । किन्तु अन्त में मन्दाग्नि से पीड़ित होकर स्वयं भी रोगी बन गये । आज भी देश में स्वराज्य की उत्कट चाह नहीं है, जब यह चाह उठेगी तब किसकी मजाल जो हमें परतंत्र रक्खे ?

बस, हम परतंत्र क्यों हैं, इसका उत्तर यही है कि हममें स्वतंत्रता की उत्कट चाह नहीं है। हाल में सहकारी भारत-सचिव अर्ल विन्टरटन ने अपने व्याख्यान में कहा था कि भारतवर्ष बहुत सी बातों में पिछड़ा है, इसका यह भी कारण है कि भारतीय सांसारिक द्रव्यों से विरक्त हैं। यह कथन असत्य नहीं है । हाँ, इतना ज़रूर है कि हमारा वैराग्य **कायक्लेशभयात्यजेत्** की बुनियाद पर रचा हुआ तामस त्याग है ।

"जिन खोजा तिन पाइयाँ"—चाह उठने पर हम भी स्वतंत्रता के लिए मर मिटेंगे ।

मई १९२७.

: ४ :

मार्सेल्स से जेनेवा

हम लोग २० जून को सबेरे मार्सेल्स पहुँचे। ज़कातवालों ने पेटियाँ खुलवाईं, पासपोर्ट देखे गये; अन्त में छुट्टी मिली। मार्सेल्स यों तो पुराना नगर है, पर साफ़-सुथरा नहीं है। क़रीब नौ लाख की आबादी है। सड़क-मुहल्ले या तो कलकत्ता के चित्तरंजन एवेन्यू जैसे या बम्बई के सैण्डहर्स्ट रोड जैसे हैं। मनुष्य; यद्यपि मार्सेल्स में पैर रखते ही यूरोपियन-ही-यूरोपियन दिखाई देते हैं, किन्तु साफ़ कपड़ेवाले कम नज़र आते हैं। ज्यादातर कुली मैले कपड़ेवाले हैं। शरीर मज़बूत है—वैसे भले आदमी शौक़ीन तबियत के हैं। फ़्रांसीसियों की दाढ़ी प्रख्यात है। उसे ये लोग बड़ी सावधानी से रखते हैं। प्राय: लोग बरामदों में

बैठकर खाना खाते हैं। खाते समय हल्ला काफ़ी मचाते हैं।

मार्सेल्स में देखने लायक़ स्थान केवल नातरे दाम (Notre Dame) का मन्दिर है। यह मन्दिर प्रायः चार सौ साल पुराना है। पहाड़ी की करीब २५० फ़ीट ऊँची एक चट्टान है। उसपर पहुँचनें के लिए लिफ्ट लगी हुई है। इतनी ऊँची लिफ्ट मैंने पहलेपहल देखी। चट्टान पर मन्दिर बना है। मन्दिर का गुम्बद भी शायद २५० फ़ीट ऊँचा बताते हैं। मन्दिर के सभा-मण्डप के भीतर मेरी की मूर्ति है—गोद में बालक ईसा है। अपने मन्दिरों की तरह अन्धेरा भी गहरा था। मोमबत्तियों के प्रकाश से मूर्ति के दर्शन होते थे। अपने यहाँ दर्शनार्थी घी के दीपक जलाते हैं, वैसे ही यहाँके भक्त लोग एक-एक गज़ लम्बी मोमबत्ती ख़रीद कर मूर्त्ति के सामने उसका दीपक जलाते हैं। अपने यहाँ जैसे छत्र चढ़ाते हैं, वैसे ही यहाँ भी भक्त लोग टाल पर अपना नाम लिखकर दीवार पर लटका देते हैं। हज़ारों टालें लटक रही थीं। अपने मन्दिरों में और इस मन्दिर में मुझे कोई फ़र्क नज़र नहीं आया। मेरे लिए मेरी की गोद में बालक ईसा मानों यशोदा मैया की गोद में कृष्ण के समान था। **'तुलसी मस्तक जब नवैं, धनुषबाण लो हाथ'**, यदि तुलसीदास यहाँ आते और यह दोहा पढ़ते तो अवश्य ही ईसा की यह मूर्त्ति माता कौशल्या की गोद में

राम के आकार में परिणत हो जाती। किन्तु यहाँ तुलसीदास कहाँ ? ख़ैर, मैंने तो अपनी भावना की सृष्टि में ईसा को कृष्ण के रूप में परिणत करके शान्ति का अनुभव कर लिया। साथ ही अपने प्राचीन मन्दिरों की स्मृति भी हुई। लन्दन में हमारा भी एक विशाल मन्दिर २५० फीट ऊँचा क्यों न हो, इसकी कल्पना में मैं गोते खाने लगा तो याद आया कि अच्छा मन्दिर दस लाख बिना नहीं बन सकता। परिस्थिति को समझ कर लम्बी साँस ली। इस मन्दिर की मूर्त्ति बड़ी मनोहर थी।

हमारे देश में मन्दिरों पर तो लाखों रुपये ख़र्च होते हैं, किन्तु मूर्त्ति पर ध्यान कम दिया जाता है। जगन्नाथजी और द्वारका की मूर्तियाँ तो अपनी कला-विहीनता के लिए प्रख्यात हैं। बम्बई में लक्ष्मीनारायणजी की मूर्ति यद्यपि बड़ी मनोहर है, किन्तु ऐसी मूर्तियाँ बहुत कम मन्दिरों में हैं। यहाँ की मूर्ति में तो कारीगर ने अपनी तमाम कला ख़र्च कर डाली है। पास में ईसा की दो मूर्त्तियाँ और थीं। एक सूली पर लटकते समय की, एक सूली से उतारे जाने के बाद की। दोनों में सजीवता कूट-कूटकर भरी थी। सूली से उतारे जाने के बाद की मूर्ति को देखकर तो रोना आ सकता था। बाल बिखरे हुए, हाथ-पाँव में कीलें लगी हुईं, सारा शरीर लहू-लुहान, आँखें बाहर निकली हुईं।

दृश्य हूबहू था। नातरे दाम के मन्दिर की ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञान के लिए फ्रेंच विप्लव की कहानियाँ बहुत-कुछ प्रकाश डालती हैं।

मार्सेल्स से हम लोग जेनेवा रेल से चले। रेल के थर्ड क्लास के डिब्बे हमारे देश के सैकण्ड क्लास के डिब्बे से बुरे नहीं थे। किराया यहाँ के थर्ड का हमारे यहाँ के थर्ड से कम है। यहाँ का फर्स्ट क्लास हमारे यहाँ के फर्स्ट की तुलना में बिल्कुल रद्दी है। जेनेवा पहुँचने में हमें दस घण्टे लगे, किन्तु थकान नहीं आई। दोनों तरफ़ हरियाली थी। खेती का तो क्या पूछना। भारत में तो ऐसी खेती हमने कहीं नहीं देखी। सीधी लाइन में व्यवस्थित रूप से बराबर फासले पर पौधे बोये जाते हैं। खेत क्या हैं, बगीचे हैं। खेत के बीच में किसानों के रहने के लिए कोठियाँ हैं। ग्राम देखने के लिए तो हम शुरू से उत्सुक थे। रेल में बैठने के बाद बहुत-से ग्राम नज़र आये। किन्तु क्या हम उन्हें ग्राम कह सकते हैं? हमारे देश में ऐसे ग्राम कहाँ? इन ग्रामों की तुलना भारतवर्ष के अन्धेरी, सान्ताक्रूज, बाँदरा इत्यादि बम्बई के निकटस्थ उपनगरों से की जा सकती है। भेद केवल इतना ही है कि भारत के इन उपनगरों में धनी विराजते हैं; यहाँ के ग्राम गरीबों के हैं। साफ़ सड़कें, साफ़ छोटे-छोटे ठीक बम्बई के फ़ैशन के बंगले, मोटी-मोटी गायें, मोटे-मोटे

घोड़ों के हल, जगह-जगह सिंचाई के लिए नदियों पर लगे हुए पम्प देख-देखकर अपने देश के दुर्भाग्य पर रोना आता था।

हमलोग देश की दुर्दशा पर विवेचना करने लगे। अपने दुर्गुणों पर विचार किया और इस निर्णय पर आये कि हम में स्वार्थ-त्याग की कमी है। लालाजी (लाला लाजपतराय) ने प्रेम के आवेश में हाथ उठाकर कहा कि हमारे देश में केवल दो मनुष्य हैं—'गांधी और मालवीय।' मुझे जो रुचता था उसीकी वैद्य ने सिफ़ारिश कर दी। गाँधी और मालवीय का गुणगान करते-करते मैं कभी नहीं थकता। लालाजी की निरभिमानता और सरलता ने मुझे मोहित कर दिया। मैंने कहा, "लालाजी, इसके बाद नम्बर आपका है।" लालाजी ने कहा, "मुझे चाहे तीसरे नम्बर में रक्खो चाहे पाँचवें में, मनुष्य देश में दो ही हैं—नम्बर एक गांधी और नम्बर दो मालवीय।" ग़रीब बेचारे लालाजी! आजकल उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता, यहाँ की हवा गतवर्ष उनके अनुकूल आई तो इस साल फिर दो महीने के लिए यहाँ आये। लालाजी का सारा जीवन देश-सेवा में बीता। घर छोड़ा, ऐश-आराम छोड़ा, शरीर का सुख छोड़ा, कमाई को स्वाहा किया, जेल भुगती, स्त्री के धन का भी हाल में ट्रस्ट बनाकर अन्तिम कौड़ी प्रसन्नता-पूर्वक दान करके अब पूरे भिखारी बन गये। रात-दिन

देश-सेवा के अतिरिक्त करते क्या हैं ? यहाँ भी वही धुन है। स्वास्थ्य के लिए विदेश चले आये तो मानो ग़ज़ब कर दिया। समाचार-पत्रों ने डाँटना भी शुरू कर दिया। नेता लोग क्या ठहरे, मानो लोहे के चर्खे। चलाया जा सके इतना चला लो, टूटे तो चाहे टूटे। गांधी काम करते-करते गिर जायँ, मालवीय मर जायँ, किन्तु मरने के पहले कोई मत रोओ। पीछे तो स्मारक भी बने, सभा भी हो, वर्षी भी मनाई जाये, किन्तु जीतों की सुधि न लो। हाल में गांधीजी का, मालवीयजी का स्वास्थ्य बिगड़ा तो किसी अख़बार वाले ने यह नहीं लिखा कि इन थोड़े-से हड्डी-मांसवाले शरीरों को कुछ विश्राम लेने दो। लालाजी ने विश्राम लिया तो ऊपर से डाँट मिली। इंग्लैण्ड के मज़ूरदल के नेता रैमज़े मैकडानल्ड का स्वास्थ्य थोड़ा-सा बिगड़ा तो हवा खाने बाहर भेजे गये। अब वापिस आये हैं। ट्रेड-यूनियन बिल के कारण मजूर-दल में घोर अशान्ति है, किन्तु मजूर दलवालों ने अपने नेता से यह कह दिया कि आप अभी आराम कीजिए, आपका स्वास्थ्य ढीला है। यह भी देखिए और वह भी देखिए—आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे लोग ज़रा समझलें कि गांधी, मालवीय और लालाजी को भी हमारी ही तरह मनुष्य-शरीर मिला है, जो एक हद तक ही काम कर सकता है। ये मरेंगे तो सारा देश रोवेगा,

धाड़ मार-मारकर, आज ज़रा इन बेचारों के स्वास्थ्य की चिन्ता तो कर लो। हमलोगों में से न्याय-बुद्धि चली गई है। देश के प्रति अन्याय, धर्म के प्रति अन्याय; जाति के प्रति अन्याय, नेताओं के प्रति अन्याय। जो न्याय नहीं देते, उन्हें न्याय नहीं मिलता। हमारी भी यही गति है।

कुछ जेनेवा की बातें लिख देता हूँ। यह स्थान अत्यन्त सुन्दर है, लेकिन काश्मीर से अधिक सुन्दर न होगा, यह मेरी धारणा है। दार्जिलिंग से कुछ अधिक सुन्दर है। दार्जिलिंग केवल पहाड़ी स्थान है, यह पहाड़ों के बीच समतल भूमि पर जेनेवा झील के दोनों किनारों पर बसा हुआ है। इस प्रदेश में व्यापार अधिकतर झाड़ियों का, दूध का, होटलों का है। हवा खाने की जगह ठहरी। और अन्तर्राष्ट्रीय स्थान ठहरा, इसलिए दूर-दूर के लोग आते हैं। शहर में बड़े-बड़े होटलों की भरमार है। सामने हिमाच्छादित आल्प्स पहाड़ दिखाई देते हैं। झील का पानी इतना स्वच्छ है कि जाड़े में पानी में तैंतीस फीट गहरी पड़ी हुई चीज़ दिखाई देती है। डाक्टरी परीक्षा में जेनेवा झील का पानी सर्वोत्तम ठहरा। भूख यहाँ पर खूब लगती है। दूध अत्यन्त शुद्ध और सुस्वादु है। घृत की कोई कमी नहीं है। भूख का कारण आवहवा और व्यायाम दोनों हैं। सर्दी साधारण है, किन्तु व्यायाम में रुचि पैदा करती है।

व्यायाम का एक ज़बरदस्त साधन यह भी है कि यद्यपि सूर्योदय साढ़े चार बजे होकर सूर्यास्त आठ बजे होता है, तथापि सवेरे चार बजे से रात को नौ बजे तक सीधी रोशनी रहती है। अधिक उत्तर जाने से दिन बड़े और रात छोटी होती जायगी। सुनता हूँ कि स्काटलैण्ड में आजकल एक बजे रात तक रोशनी रहती है और तीन बजे फिर रोशनी शुरू हो जाती है, यद्यपि सूर्योदय तो शायद चार बजे होकर सूर्यास्त नौ बजे होता होगा। अधिक रात तक रोशनी टिकने का कारण उत्तरी प्रदेश है।

जेनेवा में एक फ़व्वारा है, जो एंजिन-पम्प से चलता है। ढाई फीट मोटे पाइप में आता है, जो तीन सौ फ़ीट पानी छोड़ता है। दृश्य देखने लायक़ है।

जून १९२७.

: ५ :

भीषणकाय लन्दन

जेनेवा से लन्दन की यात्रा हमने वायुयान द्वारा की। यह नया अनुभव था। नये-नये दृश्य देखने की लालसा थी, इसलिए हमारी मंडली में अदम्य उत्साह था। किन्तु यह उत्साह अधिक देर तक न ठहर पाया। आकाश में बीस मिनट भी न रहने पायें थे कि सबको चक्कर आने लगे। हमारे एक-दो साथियों नें कै करते-करते विमान को भी दूषित कर दिया। मुझे भी ज़रा-ज़रा चक्कर आ रहे थे, किन्तु राम-राम करते किसी तरह लन्दन पहुँचे। जेनेवा से लन्दन क़रीब ८०० मील है। हम आकाश में कोई आठ घंटे रहे। साथियों को परेशानी इतनी हुई कि लन्दन पहुँचने पर किसीने भोजन तक न किया। कानों

के घोंघाट ने तो बारह घंटे पीछे तक दिमाग़ को बेकार बनाये रक्खा। हवाई जहाज पर हम लोग बहुत-से शहरों पर से उड़ते हुए निकले। पेरिस को भी आकाश से देखा, किन्तु लन्दन के सामने तो सब छोटे हैं...।

नव्वे लाख मनुष्यों से गुंजारित इस घोंसले को क्या उपमा दें? पृथ्वी फिरती है, इसपर लोगों ने सन्देह किया। किन्तु लन्दन फिरता है या नहीं, इसको लोग स्वयं आकर देखलें। चर्खी के घोड़े पर चढ़नेवाले लड़के की तरह जिसने लन्दन में पाँव रक्खा नहीं कि लगा उड़ने। राह चलते मनुष्य तो मानों दौड़ते हैं। रास्तों में मोटरों का और मनुष्यों का इस तरह का तांता-सा लगा रहता है, मानो रात-दिन सड़कों से कोई जलूस गुज़र रहा हो। भीड़ पहले मैंने इतनी कहीं नहीं देखी। इसपर भी हरएक चौरस्ते पर केवल एक पुलिस का जवान भीड़ को सम्हालता है। संसार की दौड़ की बाज़ी में हम लोग कितने पिछड़ गये हैं, यह यहाँ आने पर प्रत्यक्ष होता है। ऊपर से हवाई जहाज़, सड़कों पर मोटर और ट्राम, सड़कों के नीचे बुगदे में रेल—एक साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए दो-तीन रास्ते, शहर के बीच में बड़े-बड़े बग़ीचे, आलीशान इमारतें, साफ़-सुथरी सड़कें, धन, बुद्धि, विद्या-बल, और यह सब कुछ लन्दन

में है, किन्तु तब भी लन्दन ने मुझे मोहित नहीं किया।

मैं किसी समय नित्य-नियम से दुर्गा सप्तशती का पाठ किया करता था। किसी मित्र ने मुझे बताया कि दुर्गा सप्तशती का पाठ जितना ही मंगलकारी है, उतना अमंगलकारी भी है। शुद्ध पाठ किया तो ठीक, नहीं तो लेने-के-देने पड़ जाते हैं। उदाहरण स्वरूप यह भी बताया कि "**भार्यां रक्षतु भैरवी**" के स्थान पर "**भार्यां भक्षतु भैरवी,**" ऐसा अशुद्ध पाठ करके एक भक्त को अपनी स्त्री के प्राण से भी हाथ धोना पड़ा था। मैंने सोचा कि ऐसा देव मुझको फलप्रद नहीं होगा। जहाँ पाठ की अशुद्धि पर इतना क्रोध, वहाँ "**प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो**" की पुकार किसके कानों तक पहुँचे ? लन्दन का भी यही हाल है। यहाँ '**निर्बल के बल राम**' की कोई सुनाई नहीं है। "**यो माम् जेष्यति संग्रामे स मे भक्तो भविष्यति**", देवी की इस उक्ति को लन्दन बार-बार डंके की चोट दोहरा रहा है। लन्दन लन्दनवासियों को चाहे मंगलकारी हो, किन्तु दूसरों के लिए मंगल कहाँ ? संसारभर का धन चूस-चूस कर लन्दन दिन-दिन मोटा होता जा रहा है। यदि भारतवर्ष अपना पाट लन्दन की मार्फ़त जर्मनी को बेचता है तो अमेरिका भी अपनी चाँदी इसीकी मार्फ़त चीन को

भेजता है। मानों व्यापार का ठेका लन्दन ने ही ले रक्खा हो। किन्तु इतना होने पर भी लन्दन ख़ूबसूरत शहर नहीं है।

ऐसे कई महल, मकान या गिर्जाघर हैं जिनकी संसार भर में ख्याति है—जो साहित्य या इतिहास में अमरत्त्व प्राप्त कर चुके हैं—पर जो वास्तव में 'दूर के ढोल सुहावन' इस उक्ति को चरितार्थ करते हैं। धुवाँ और धूप से आच्छादित ९० लाख मनुष्यों की बस्ती का अन्धकारमय लन्दन अपनी बदसूरती से लोगों के चित्त में भय-सा पैदा करता है। बड़ों-बड़ों के दाँत खट्टे करनेवाला, फ्रांस को समय-समय पर खिलौने की तरह खिलानेवाला, अपने देश की स्वतंत्रता के लिए मर मिटनेवाला, दिग्विजयी, एशियाई देशों का भाग्य-विधाता, संसारभर में अपना सिक्का जमानेवाला, भयावना, भीषण लन्दन किसीके चित्त को मोहित नहीं कर सकता।

आजकल यहाँ रूस से खटकी हुई है, इसकी बड़ी चर्चा है; बुध को सूर्यग्रहण होगा, इसकी बड़ी चर्चा है; एक सोलह साल की लड़की ने सबको टेनिस में हरा दिया, इसकी बड़ी चर्चा है; सम्राट् के यहाँ परसों दावत में किस किस देवी ने कौन-कौन से आभूषण पहने, इसकी बड़ी चर्चा है। किन्तु भारत में भूख के मारे कितने मनुष्य

मरते हैं, इसकी कोई चर्चा नहीं। भारत की चर्चा कौन करे ? भारत शान्त है, चुप है, हिन्दू-मुसलमान झगड़ते हैं; सिर से बला टली, अपने दिन चैन से कटते हैं— चिन्ता किस बात की ? यहाँ की पार्लमेण्ट का मकान सात सौ साल पुराना है। अन्य सरकारी मकान भी सब पुराने हैं। सरकारी नौकरों को मामूली वेतन मिलता है। फ़िजूलखर्ची का नाम नहीं। क्यों ? इसलिए कि सरकार को प्रजा के सामने कौड़ी-कौड़ी का हिसाब देना पड़ता है। किन्तु भारत की ओर भी देखिए; नई दिल्ली के मकानों की ओर दृष्टिपात कीजिए; भारत-सरकार के शाही ठाट-बाट को देखिए। आकाश-पाताल का अन्तर है। किन्तु दस्तंदाज़ी कौन करें ? यहाँ तो--

"हमें क्या बोलशेविज्म गया या रूस आता है,
यहाँ तो फ़िक्रे सरमाई कि माहे पूस आता है।"

कोई नंगापन मिटने की औषधि बतादे, पेट भरने का उपाय बतादे, तो दिमाग़ में सूझ पैदा हो, अन्यथा जहाँ रोने से फ़ुरसत नहीं, वहाँ संगीत कैसा ? रोम जलने लगा तो नीरो ने सारंगी की तान छेड़ी। आज चाहे लोग नीरो को धिक्कारें; किन्तु आज भी रोम जलता है और नीरो अपनी सारंगी में मस्त है। किन्तु हम तो ऐसे सहम गये हैं कि भूखे हैं, इसकी भी सुध हमें नहीं है। लोग

कहते हैं कि तुम भूखे हो, इसलिए हम भी कहते हैं कि हम भूखे हैं। हमें क्या पता कि हम वास्तव में भूखे हैं !

जुलाई १९२७.

: ६ :

जर्मनी में

मैंने यूरोप के बड़े शहरों में लन्दन देखा, पेरिस देखा और बर्लिन देखा। मुझे कहने में कोई संकोच नहीं होता कि बर्लिन सबमें श्रेष्ठ है। लन्दन तो ख़ूबसूरत शहरों में नहीं गिना जा सकता; किन्तु लन्दन की ख़ूबी, लन्दन की चहल-पहल में है। पेरिस में तीन-चार सड़कें अत्यन्त सुन्दर हैं, बाक़ी भद्दी। वहाँ के नाटक, खेल-तमाशे मशहूर हैं; इसीलिए मालूम होता है, पेरिस का नाम बहुत ज्यादा होगया; किन्तु बर्लिन सब में निराला है। सुन्दरता तो कूट-कूट कर भरी है। सड़कों पर अधिक भीड़ नहीं है, क्योंकि रास्ते अत्यन्त चौड़े और सीधे हैं। शहर में इधर-उधर घूमने के लिए नीचे ज़मीन के भीतर की रेल, ज़मीन

के ऊपर पुल बांधकर पुल पर चलनेवाली रेल, मोटर, बस, ट्राम, इत्यादि तो हैं ही, रास्ते के दोनों तरफ़ गाड़ी-घोड़े चलते हैं, बीच में सड़क के दोनों किनारों पर राहगीरों के लिए फ़ुटपाथ बने हैं। बीच का फ़ुटपाथ भी एक अलग सड़क समझिए जिसके दोनों ओर वृक्ष लगे हैं। मकान सब सुन्दर हैं। रास्ते इतने साफ़ हैं कि कलकत्ते के चौरंगी से बढ़कर नहीं तो समान ज़रूर हैं। चौराहों पर भीड़ को सम्हालने के लिए पुलिस नहीं खड़ी होती, लाल-हरी बत्ती दिखाकर भीड़ को सम्हालते हैं।

कैसर के महल देखें। भीतर सजावट अच्छी है, किन्तु इन महलों की अपेक्षा किसी किसी होटल में सजावट अच्छी होती है। लोगों को आश्चर्य हो सकता है कि हमारे राजा-महाराजाओं की अपेक्षा इन सम्राटों के महल अधिक मनमोहक क्यों नहीं होते। लोग भूल जाते हैं कि हमारे राजा-महाराजा निरंकुश हैं, उनके काम की खबर लेनेवाला कौन है? पर यहाँ तो पार्लमेण्ट रुपया मंजूर करती है तब कहीं ख़र्च कर पाते हैं। नतीजा यह हुआ कि कैसर और पंचम जार्ज के जो महल हैं, वे सब पुराने हैं, उनकी सजावट पुरानी है—करोड़ों रुपया यहाँ बात-बात में खर्च होता है, किन्तु शाही महलों पर नहीं। हमारे राजा-महाराजाओं के यहाँ लाखों उनके स्नान-घरों पर खर्च

हो जाते हैं, किन्तु लोकोपयोगी कामों के लिए कुछ भी नहीं। इनके कुरूप महल इनकी शोभा हैं, हमारे सुन्दर महल हमारी शर्म हैं। मैंने कैसर के पुराने-नये सब महल, कोई भीतर से कोई बाहर से देखे। प्रायः साधारण हैं। कोई विशेषता नहीं, सो भी पचास-साठ वर्ष पहले के बने हुए हैं।

बर्लिन का शाही पुस्तकालय देखा। पुस्तकालय का मकान १५ बीघे में बना है। १३ तल्ले का मकान है। कुल तीन लाख पुस्तकों का संग्रह है। सारा पुस्तकों से भरा है। संस्कृत और पाली की तमाम पुस्तकें हैं। हस्तलिखित अनेक पुस्तकें भारत से ला-लाकर रक्खी गई हैं। पुस्तकाध्यक्ष ने कहा—"हमारे पास गांधीजी के अंग्रेजी ग्रन्थ और उनके गुजराती ग्रन्थों के अनुवाद तो हैं, मूल गुजराती ग्रन्थ नहीं हैं।" मैंने कहा—"मैं भिजवा दूँगा।" भारत में अलवर, बीकानेर इत्यादि तमाम राज्यों की पुस्तकों का सूचीपत्र इनके पास है। पुस्तकालय देखकर हम लोगों को अत्यन्त हर्ष हुआ।

जर्मनी के डाक्टर प्रसिद्ध हैं। मैंने एक विशेषज्ञ को बुलाकर सारे शरीर की परीक्षा करवाई। उसने मेरे मेदे में से एक यंत्र द्वारा कुछ रस निकालकर उसकी परीक्षा की। अन्त में कहा कि मेरे तमाम अंग स्वस्थ हैं, कोई व्याधि

नहीं है, कभी-कभी बीच में ज़ुकाम हो जाता है, वह बदहजमी के कारण है। बदहजमी अधिक खाने के कारण है। उलट-पुलट करके मुझे देख लेना चाहिए कि कितनी रोटी, कितना दूध सहज में पच सकता है और फिर उससे अधिक नहीं खाना चाहिए। मैंने अपने वैद्यों के पर्पटी के इलाज और २५ सेर तक दूध पिलाने की कथा कही। पहले तो उसने नहीं माना, फिर सारी बात समझने पर कहा—"महाशय, अपने वैद्यजी को यहाँ भेजिए। हम उन्हें सब तरह आराम देंगे, रोजी देंगे, सब सुभीता कर देंगे। हम जानना चाहते हैं कि वह यह कैसे करते हैं।" उन्हें यह क्या पता कि हमारे शास्त्रीजी गर्मी में नंगे बदन, सर्दी में पतली बण्डी पहन कर चलते हैं! मैंने कहा—"इसका हम प्रबन्ध कर लेंगे।" ये लोग सीखने के लिए कितने आतुर रहते हैं, यह ध्यान देने की बात है।

हैम्बर्ग भी अत्यन्त सुन्दर है। यहाँ नई बात यह है कि एक सड़क नदी की तह के नीचे है, जो पुल का काम देती है। शहर भी अत्यन्त सुन्दर है। मैंने जर्मनी के गाँव देखे, क़स्बे देखे, शहर देखे। विद्या में, परिश्रम में, व्यवहार में, कला-कौशल में ये जर्मन सर्वश्रेष्ठ हैं। धूर्तता में, धन कमाने में राजनीति में, अंग्रेज़ सर्वश्रेष्ठ हैं।

वीरता में, भलमंसाहत में, सौन्दर्योपासना में फ्रेंच सर्व-श्रेष्ठ हैं ।

और हमारे भारतवासी ? **'होइ है सोइ जो राम रचि राखा'** को रोज़ कह लेते हैं; किन्तु हमारे ही कवियों का गाया हुआ **'दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति'** किसी की ज़बान पर नहीं ।

फरवरी १९२८.

: ७ :

पश्चिम-पूरब

इंग्लैण्ड से अमरीका जाता हूँ तो मालूम होता है कि किसी दरिद्र स्थान से इन्द्रालय को जा रहा हूँ। इतना ऐशो-आराम, इतनी भोग की भूख तभीतक निभ सकती है जबतक कि खानेवाले थोड़े हों, खिलाने वाले असंख्य। इन मुल्कों में यंत्र का आविष्कार भी इसी सिद्धान्त पर हुआ है। हाथ की मेहनत से कहाँ तक पैदा किया जा सकता है? भूख की कोई सीमा नहीं है। हम दो सौ मुसाफिरों के लिए वहाँ कितना आयोजन है, कितनी जूठन रोज जाती है, कितनी सामग्रियों की नित्य बरबादी होती है! मनुष्य इतना कहाँ तक पैदा करता! अक्लमन्दों ने कहा—चलो, यंत्र निकालो। यंत्र भी चलने

लगे, तो भी भूख न भगी। नतीजा यह है कि लाखों प्राणी यहाँ बेकार हैं; करोड़ों एशिया में तबाह हो गये; किन्तु कुछ हज़ार की भूख ज्यों-की-त्यों जारी है। आदर्श भी उन्हींका है। लोग उनको गिराके ख़ुद वहाँ पहुँचना चाहते हैं। कुछ लोग संसार को सुखी देखना चाहते हैं; किन्तु जबतक यह राक्षसी भूख है, तबतक संसार के लिए सुख मृग-तृष्णा है। किसी दंत-कथा में यों कहा गया है कि जब रावण न मरा तो रामजी को विभीषण ने बताया कि रावण की नाभि में अमृत-कुण्ड है, उसका शोषण कर लेने से उसकी मृत्यु हो सकती है। उसी प्रकार जबतक इन गोरों की भोगपिपासा पर कुठाराघात नहीं होगा, तबतक संसार का दुःख बना ही रहेगा।

सुनिए यहाँ की दिनचर्य्या—

सुबह ९ बजे उठे कि नाश्ता किया; दौड़े आफिस में; वहाँ काम नहीं करना है, केवल हिसाब लगाना है कि आज कितने रुपये आगये। एक बजे लंच; फिर वही आफ़िस। सात बजे भोजन; ८॥ बजे नाटक; ११॥ बजे ब्यालू; फिर नाच; २ बजे शयन। यह साधारण दिन और रात्रि-चर्या है। शराब, धुवाँ, चाकलेट, चाय इसका ज़िक्र फ़िज़ूल है। लोगों में दिमाग़ है, मगर रात-दिन उससे यही काम लिया जाता है कि कैसे किसीको खा

जायँ ? दया है, सहृदयता है; किन्तु सब कुछ वातावरण से दूषित है । लोग निरे राक्षस नहीं हैं; किन्तु वातावरण के कारण उन्होंने सिद्धान्तों में और जीवन में अन्तर बना रक्खा है । लोग सर्वनाश की ओर जा रहे हैं, ऐसा इन्हें पता भी नहीं है । यदि यह भोग-पिपासा इनकी मिट जाय तो बाक़ी साधना रह जाती है । एक अजीब मिश्रण है, जो मनन करने योग्य है ।

मैंने भर-पेट निन्दा की है, वह केवल उनके बुरे पहलू की बुराई है । अच्छाई भी ख़ूब है । शौर्य है, दक्षता है, व्यावहारिकपन है, फुर्ती है, दया है, सचाई है ।

यहाँ से मेरा मन पिलानी की ओर दौड़ता है । कोई नादान दोस्त मिलान करे तो कहेगा कि पिलानी तामस निद्रा में सोई है, लोग अज्ञान हैं, मूर्ख हैं, कायर हैं, गंदे हैं । किन्तु ऐसी बात नहीं है । बात यह है कि आप ख़ुर्दबीन लेकर ढूंढ़ेंगे, तो वहाँ आपको काफ़ी मसाला मिलेगा । दरअसल पिलानी ऊजड़ होती जाती है । न हीरा है, न डेंडा है, न सुल्तान नीलगर है, न करीमख़ाँ है । और भी अनेक नाम गिना सकता हूँ, जो चले गये । उनकी जगह नई रोशनी के लोगों ने ले ली है । बड़वाली पिलानी की जगह कालेजवाली पिलानी या बिड़लों की पिलानी बन गई है । जोहड़ों की जगह तालाब ने ले ली ।

हमारे कई ऐतिहासिक ऊँट मर गये; कुम्मैत घोड़ी भी बूढ़ी हो चली। इनको तो हम याद करेंगे; किन्तु कितनी मोटरें टूटी हैं, इनका हिसाब भी नहीं है। माली बारा लेते थे तो मधुर गान गाते थे। अब रामेश्वरजी के पंप ने खुमाणिए माली की अक्ल पर काफ़ी आक्रमण किया है। अजब परिवर्तन हुआ है। रात को तिल के तेल की बत्ती में पढ़नें का एक अजब मज़ा आता था। अब वह बात ही नहीं रही। कलकत्ते-बम्बई से हम लोग आते थे तो गांगजी महराबखाँ की बूझ होती थी, अब अचानक आ धमकते हैं। पिलानी में अवांछनीय चहल-पहल और काफ़ी अशान्ति आगई है। खूब धक्का लगा है। पश्चिम की रोगीली हवा ने खूब धूम मचाई है। किन्तु फिर भी कितनों के स्तम्भ अटल खड़े हैं, जिन पर कोई असर नहीं हुआ है। यदि असली पिलानी का मज़ा लेना है, तो उन्हींसे मिलिएगा। उनसे पुरानी बातें सुनिएगा तब पता लगेगा कि पिलानी कितनी उजड़ गई है। किसी जोगी को बुलाकर हीरराँझा सुनिएगा।

श्री ठाकुरजी के सामने जब स्वामीजी गाते थे—— **'एक नवल नार, करके सिंगार, ठाढ़ी अपने द्वार, पिया निकस बाहर एक पलक मार, मन मेरो हर लीन्हो।'** वे इतना शुद्ध कभी नहीं गाते थे। काफ़ी अशुद्धियाँ होती

थीं। तब मैं कलजुगी आदमी कहकहा मार कर हँस देता था। किन्तु स्वामीजी तो भजन गाते ही रहते थे। ग्यारस की रात और ठाकुरजी के सामने उन्हें रिझाने को, मुझे याद है, एक बार स्वामीजी ने गाया——

उड़रे हंस तुम जाओ गगन में,
खबरा लाओ मेरे प्रीतम की।
प्रीतम मेरा मैं प्रीतम की,
गांठा धुल गई रेशम की ।

रामेश्वरजी नहीं समझे कि रेशम की गाँठ कैसे धुल गई? तो आखिर स्वामीजी से पूछ ही बैठे। मैं उन दिनों भी कलजुगी था, इसलिए हँस पड़ा। पं० भोलारामजी भी हँस पड़े; किन्तु स्वामीजी ने तो वहाँ भी राधा-कृष्ण का मेल मिला ही दिया। वह तो 'भजन' ही गाते थे। अब भी उन्हें "ढूंडिये" और मुसलमान बीवी में कोई फ़र्क मालूम नहीं देता।[१]

१. "ढूंडिये" या ढूँडिया राजपूताना में जैन साधुओं को कहते हैं। वे सफेद वस्त्र पहिनते हैं और मुंह पर भी एक सफेद पट्टी बाँध लेते हैं। जिन स्वामीजी का जिक्र है वे एक मर्तबा दिल्ली आये तो उन्होंने एक मुसलमान औरत को बुरका पहने देखा। बुरका सफेद था। स्वामीजी समझे कि यह कोई "ढूँडिया" जैन साधु है। मैंने उन्हें कहा कि

डाक्टरजी हैं पुराने पापी । चाहे वह अपने मन से चालाक हों; किन्तु हम सभ्य लोगों के सामने खिलौना हैं । मैं उन्हें जाट डाक्टर कहा करता हूँ । क्योंकि ईश्वर की दया से उनमें सभ्यता नहीं आई है । गाय ख़ुद दुहते हैं, छानी काटते हैं और रसोई भी बना लेते हैं । कभी-कभी औज़ार की कमी में चाकू ही से काम ले बैठते हैं । हमारे देश में गांधीजी जैसे जाट नेता और डाक्टरजी जैसे जाट डाक्टर ही सफल हो सकते हैं । हरदेवजी वैद्य के पिताजी जब मेरे दादोजी बैल की उपमा देते थे तो वह प्रसन्नतासूचक उद्‌गार किया करते थे । सागरमलजी वैद्य के पिता लगातार तीस दिन एक सेर घी हज़म कर सकते थे । सरूपा खाती तो शायद जीवित है । हमारा सीता दर्जी है, जिसकी भैंस की कथा रोचक है । न मालूम उसने मेरे कितने कपड़े बिगाड़े ! उलहना देने पर कहता था कि बम्बई जैसा तो बना ही देता हूँ; हाँ, कलकत्ते जैसा नहीं बना सकता । सम्सिया धोबी भी ऐसी ही कुछ दिल दहला देनेवाली अद्‌भुत बात कर बैठता था कि फिर उलहना देना 'असम्भव-सा' हो जाता था । कितनी

स्वामीजी यह कोई मुसलमान बीवी है, पर स्वामीजी अपने हठ से नहीं डिगे । उन्होंने कहा, मुसलमान बीवियां क्या मैंने पिलानी में नहीं देखीं यह तो "ढूंडिया" ही है !

ओछी निगाह से ये आपकी सभ्यता को देखते थे, तभी तो बाल-बाल बचे।

सरेआम टाँग उठाकर अधोवायु छोड़ना तो इनके बाँयें हाथ का खेल था। यहाँ तो यह हालत है कि डकार को भी रोकते हैं। नये लोग रास्ते में बैठकर पेशाब करनेवालों को जी भर के कोसें, मगर उन्हें क्या पता, उनमें भी नागरिक कर्त्तव्यों को पहचाननेवाले पाँव से एक छोटी-सी तलैया बनाकर उसमें पेशाब करते थे और फिर उसपर पाँव से मिट्टी डाल देते थे। हाँ, जो लोग नादान थे, वे नाला बहाते थे। जैसा नाई मुण्डन ही जानता था। 'आगिया' निकालना उसे नहीं आता था। बँगला बाल तो चले भी नहीं थे। किसी नई रोशनीवाले ने (उस ज़माने के) आगिया बनवाना चाहा, तो जैसा ने कोयला लेकर पहले उसकी रूपरेखा खींची। ऐसे-ऐसे महारथी थे, जो अब नहीं रहे और चले जा रहे हैं।

मैं पूछता हूँ, उन्होंने किसका क्या बिगाड़ा था? किन मुल्कों को तबाह किया था? कहाँ बेकारी फैलाई थी? फिर उन्हें क्यों गालियाँ देते हो? आप उन वृद्धों से मिलिएगा, जिन्हें सभ्यता की हवा न लगी हो। पिलानी उजड़ चली है। पाण्डेयजी का आक्रमण जारी है; किन्तु जो बची-खुची पुरानी सभ्यता है, उससे लाभ उठाइएगा।

मैं पुरानी बातों की याद करता हूँ तो हृदय में गुदगुदी होने लगती है। स्पीच देता हूँ, सेंट जेम्स तक की हवा खा चुका, किन्तु मन अब भी वहीं जाता है। पिलानी से जब पुरानी पिलानी विदा ले लेगी, तब कुछ नहीं रहेगा। आपके भाग्य में बदा हो और देखने को मिले तो लड़की की विदाई का पुराना दृश्य देखिएगा। याद आता है, एक प्रहर का तड़का था और गर्मी का मौसिम। निस्तब्ध रात में कोई लड़की विदा की जा रही थी। एक तरफ़ लड़की का रुदन, दूसरी ओर स्त्रियों का गीत—**'ओलँगडी लगायकै कोठे चाल्याजी।'** तीसरी ओर ऊँटों का उगाल लेना एक अजब संमिश्रण था, जो मोहक भी था। बचपन में मुझे यह दृश्य इतना मज़ेदार लगा कि बड़े चाव से मैं इसी साध में कई वर्ष मग्न रहा कि कभी मेरे ससुरालवाले भी मेरे साथ मेरी धर्मपत्नी को इसी तरह विदा करेंगे। परन्तु उन भलेमानसों ने विदा किया तो दोपहर को; इसलिए संगीत का मज़ा जमा ही नहीं। किन्तु यह था उन दिनों जबकि एनीमा नहीं लेते थे। स्टार्च शीघ्र हज़म होता है या दूध, इस उधेड़-बुन में नहीं लगे थे। तराज़ू पर तुलना नहीं सीखा था।

पिलानी उन मीठे दिनों की याद दिलाती है जब हम स्वतन्त्र थे। जब लालसायें, आशायें सारी सामने थीं।

कैसा मन में आता है ! पिलानी पहुँच जाऊँ और फिर वैसा ही बन जाऊँ ! यह तो असम्भव है । मेरी अंतड़ियों में भावुकता नहीं आई है कि बिना एनीमा के भी काम दें । किन्तु बूढ़े लोगों से सुन-सुन के आप पिलानी को पहिचानें । आप ईंट, पत्थर, वृक्ष, मनुष्य सबसे मिलें और पढ़ाने के साथ-साथ पढ़ें भी उन्हींसे । कभी बारिये के पास बैठें तो कभी बूढ़े नाई से हजामत बनवायें; सीता से कुर्त्ता सिलवायें और रूपा से पढ़ें ।

आपने कहा था कुछ लिखना; तो उमंग आगई । न्यूयार्क पहुँचते ही मैं "तेल-तेल" चिल्ला उठूँगा । वहाँ मेरी भावुकता का खातमा हुआ ही समझिएगा । इतना लिखा तो सुख मिला ।

महात्माजी-सम्बन्धी

१. गाँधीजी के साथ १५ दिन
२. प्रेमी की व्याकुलता
३. मंदिर-प्रवेश बिल
४. गांधीजी और अभिमान
५. शास्त्र भी और अक्ल भी
६. दरिद्रनारायण के मंदिर में
७. आचार बनाम प्रचार
८. उत्कल में पांच दिन
९. हिन्दुओं को नैतिक चुनौती
१०. ईश्वर भजन और लोक-कल्याण

: १ :

गांधीजी के साथ पन्द्रह दिन

[१]

जंगल की ओर से एक बैलगाड़ी को तेज़ी से दौड़ाते हुए तीन वृद्ध किसान आ रहे थे। गांधीजी को देखकर सहसा उन्होंने गाड़ी रोकी। बड़ी फुर्ती के साथ अटपटे से एक के बाद एक ने उतरकर गांधीजी के चरणों में अपना सिर रखा और चुपचाप जैसे आये वैसे ही गाड़ी में बैठकर आगे चल दिये। न कुशल पूछी, न क्षेम। न अपना दुःखड़ा रोया, न आँसू बहाया। वे ख़ूब जानते हैं कि गांधीजी का तो हरएक सांस ग़रीब के लिए ही निकलता है, इसलिए कहें तो क्या और पूछें तो क्या ? उनके लिए तो मौन होकर सिर झुकाना ही काफ़ी था। कोई पढ़ा-लिखा होता

तो छप्पन बातें पूछता, उलहना देता, समालोचना करता; किन्तु ग़रीब में इतनी कृतघ्नता कहाँ है ? वह तो दूर से ही दर्शन करके सन्तुष्ट होता है। यह तो अनेक घटनाओं में की एक छोटी-सी साधारण घटना है; किन्तु ग़रीबों के हृदयों में गांधीजी का क्या स्थान है, कैसा सिक्का है, यह जानना हो तो ऐसे उदाहरण ही उपयुक्त हैं। बछड़े की मृत्यु के बाद किसीने कहा था—"आज से महात्मा नहीं, मिस्टर गांधी कहो; अब तो गांधी का कोई दाम भी न पूछेगा।" किन्तु ग़रीब इस झमेले में क्यों पड़ें ? अहिंसा किसे कहते हैं और हिंसा किसे कहना चाहिए, यह तात्त्विक विवाद तो उन्हींको शोभा दे सकता है, जो कलाकन्द खाकर बिजली के पंखे के नीचे लेट सकते हों। फ़ुरसती आदमियों के लिए वेदान्त का यह तात्त्विक विवेचन जी बहलाने का एक अच्छा साधन साबित हो सकता है। किन्तु ऊँट को पापड़ से क्या काम ? आये साल अकाल और महामारी; न खाने को पूरा अन्न, न शरीर ढकने को वस्त्र; जमींदार की ज्यादती, साहूकार की ज्यादती, और ऊपर से उपदेशकों की हिमायत। उन्हें क्या पता कि ग़रीब को रोग रोटी का है, न कि धर्म का। सुदामा की तरह ग़रीब को ज्ञान नहीं चाहिए, रोटी चाहिए। गांधी ग़रीबों को उपदेश देने नहीं जाता, गांधी उनके हृदय में प्रवेश करके ग़रीब

के दुःख से दुःखी होता है——ग़रीब बनके रहता है और ग़रीबों के लिए जीता है; यही कारण है कि ग़रीबों के हृदय पर गांधी का एकछत्र अधिकार है। भारत के एक छोटे-से-छोटे ग्राम में जाइए और पूछिए, गांधी कौन हैं ? तुरन्त उत्तर मिलेगा कि ग़रीबों का भला चाहने वाले। गांधी क्या पढ़े हैं, क्या लिखे हैं, क्या कहते हैं, यह उनके लिए व्यर्थ की चिन्ता है। गांधी बाबा अनाथों के, ग़रीबों के हितचिन्तक हैं, इसीमें उनके लिए गांधीजी की सारी जीवनी आ जाती है। चाहे यह जीवनी सूत्ररूप से हो, किन्तु संसार का अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थकार इससे अधिक संपेक्ष में और क्या कह सकता है ? थोड़े-से लोग चाहे गांधीजी को गो-हत्यारा कह कर सन्तोष कर लें, किन्तु 'गांधीजी की जय' आज भी आकाश को कँपा देती है।

× × ×

आजकल गांधीजी वर्धा आये हुए हैं। वर्धा में जमनालालजी की प्रेरणा से श्री विनोबा ने एक सत्याग्रह-आश्रम खोल रखा है और गांधीजी वहीं ठहरे हुए हैं। गांधीजी क्या आये मानों घर में कोई बड़े-बूढ़े दादा आ गये हों। आश्रमवासी तो गांधीजी को बापू ही के नाम से पुकारते हैं, किन्तु बापू होने पर भी बच्चों के साथ गांधीजी बच्चों ही की तरह रहते हैं। खाना-पीना, काम-काज भी आश्रम

के नियमों के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। बहस हुई, झगड़ा हुआ; अन्त में जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू, आप यहाँ मेरी देखरेख में हैं; जैसा मैं कहूँ वैसा कीजिए। इन प्रयोगों के कारण आप यहाँ से बीमार होके जायें, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहाँ से चला जाऊँगा।" गांधीजी नें खिलखिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते? चुप रहे। गांधीजी का हठ क़ायम रहा।

अग्रवाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रखा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अस्पृश्यों के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा में भी अग्रवालों में दो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही अनुयायी हैं, तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं चाहता। जमनालालजी ने उन्हें समझाया

कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले में मुझसे मोह तोड़ लें। किन्तु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दें ? एकदिन कुछ वृद्ध सज्जनों को अगुआ करके दूसरे दल की मंडली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह में शरीक होवें, अस्पृश्यों से छुआछूत न मानें, उनके लिए मंदिर खोलें, इसमें तो हम शामिल हैं; किन्तु अस्पृश्यों के हाथ का खान-पान हमें भी नहीं रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमें इतना विश्वास नहीं दिला सकते कि भविष्य में वह अछूतों के हाथ का पकाया नहीं खायेंगे ? जब हम लोग इतने आगे बढ़ने को तैयार हैं, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोड़ा-सा पीछे क्यों न हटें ?" यह संक्षेप में उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे कि "आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते हैं, क्या मैं आश्रम में खाने से इन्कार करूँ ?" "आश्रम की कौन कहता है, यह तो पुण्य भूमि है; तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नहीं। आप अन्य स्थानों पर ऐसा न करें, यही हमारी माँग है।" इस तरह से बहस होती रही। अन्त में तय हुआ कि गांधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगों का एक डेप्यूटेशन गांधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के

के नियमों के मुताबिक। आश्रमवासी शुद्ध घृत के अभाव में आजकल अलसी का तेल व्यवहार करते हैं। गांधीजी ने भी बकरी के दूध की जगह अलसी का तेल खाना शुरू कर दिया है। जमनालालजी को इस फेरफार की खबर मिलते ही चिन्ता शुरू हो गई। गांधीजी इस तरह के प्रयोग कर करके कहीं अपना स्वास्थ्य न खो बैठें, इस आशंका से जमनालालजी ने गांधीजी को समझाना शुरू किया। वहस हुई, झगड़ा हुआ; अन्त में जमनालालजी ने बल-प्रयोग किया—"बापू, आप यहाँ मेरी देखरेख में हैं; जैसा मैं कहूँ वैसा कीजिए। इन प्रयोगों के कारण आप यहाँ से बीमार होके जायें, यह मैं नहीं बर्दाश्त करने का।" "तो दे डालो नोटिस मुझे, यहाँ से चला जाऊँगा।" गांधीजी नें खिलखिलाकर कहा। जमनालालजी अब क्या कहते ? चुप रहे। गांधीजी का हठ क़ायम रहा।

अग्रवाल-पंचायत ने जमनालालजी को जाति-बहिष्कृत कर रखा है। उनका सबसे बड़ा गुनाह यह बताया गया कि उन्होंने अस्पृश्यों के हाथ का खाया। जमनालालजी के कारण वर्धा में भी अग्रवालों में दो दल हैं। एक दल तो कट्टर पुराने विचार के लोगों का है, दूसरा दल भी यद्यपि पुराने विचारों का ही अनुयायी हैं, तो भी जमनालालजी को छोड़ना नहीं चाहता। जमनालालजी ने उन्हें समझाया

कि मुझे निबाहना कठिन काम है, इसलिए आप सामाजिक मामले में मुझसे मोह तोड़ लें। किन्तु जिनका प्रेम है, वे जमनालालजी को कैसे त्याग दें ? एकदिन कुछ वृद्ध सज्जनों को अगुआ करके दूसरे दल की मंडली जमनालालजी के पास पहुँची। "जमनालालजी विधवा-विवाह में शरीक होवें, अस्पृश्यों से छुआछूत न मानें, उनके लिए मंदिर खोलें, इसमें तो हम शामिल हैं; किन्तु अस्पृश्यों के हाथ का खान-पान हमें भी नहीं रुचता। चाहे हमारे सन्तोष के लिए ही सही, क्या जमनालालजी हमें इतना विश्वास नहीं दिला सकते कि भविष्य में वह अछूतों के हाथ का पकाया नहीं खायेंगे ? जब हम लोग इतने आगे बढ़ने को तैयार हैं, तो जमनालालजी हमारे सन्तोष के लिए थोड़ा-सा पीछे क्यों न हटें ?" यह संक्षेप में उनकी दलील थी। जमनालालजी कहने लगे कि "आश्रम में तो सभी जाति के लोग रहते हैं, क्या मैं आश्रम में खाने से इन्कार करूँ ?" "आश्रम की कौन कहता है, यह तो पुण्य भूमि है; तीर्थस्थान के लिए कोई रुकावट नहीं। आप अन्य स्थानों पर ऐसा न करें, यही हमारी माँग है।" इस तरह से बहस होती रही। अन्त में तय हुआ कि गांधीजी के सामने मामला पेश किया जाय। दूसरे दिन वृद्ध लोगों का एक डेप्यूटेशन गांधीजी के पास पहुँचा। गांधीजी ने चर्खा चलाते हुए समाज के

अगुओं से बातें प्रारम्भ कीं। गांधीजी ने पूछा—"जमनालालजी अस्पृश्यों के हाथ का न खायें, इसमें आपको कौन सा डर है? समाज का या धर्म का?" एक वृद्ध ने कहा—"धर्म तो हम क्या समझें, समाज की रूढ़ि है कि ऐसा नहीं करना चाहिए। हम जमनालालजी की सब बातें मानते हैं, तो फिर हमारी इतनी बात जमनालालजी क्यों नहीं मानते?" गांधीजी ने कहा—"क्यों न मानें; किन्तु यदि रूढ़ि का ज़ुल्म हो तो उस रूढ़ि का नाश कर देना चाहिए। प्राचीन काल में ऐसा रूढ़ि का बन्धन था, यह मैं तो नहीं जानता। मैं तो समझता हूँ कि जो स्वच्छ है, शराबी नहीं है, व्यभिचारी नहीं है, उसके द्वारा स्वच्छता से पकाया हुआ खाने योग्य पदार्थ हमारे लिए अवश्य भोज्य है। उनको यदि हम कहें कि तुम्हारे हाथ का हम नहीं खायेंगे, तो क्या हमारे साथ वे रहेंगे? वे अवश्य हमारा त्याग कर देंगे। मैं तो केवल उनकी धमकी से भी नहीं डरता, किन्तु यदि हमारे दोष के कारण वे हमारा त्याग कर दें तो मैं उसे कैसे बर्दाश्त कर सकता हूँ? जो अपवित्र रहते हैं, मुर्दे का मांस खाते हैं, शराबी हैं, उनके हाथ का खाने को तो मैं भी नहीं कहता। उनसे तो मैं कह सकता हूँ कि पहले तुम अपनी बुराइयाँ दूर करो तो मैं तुम्हारे हाथ का खाऊँ। किन्तु जो स्वच्छ हैं उनके हाथ का तो न

खाने से धर्म का नाश हो जावेगा। आपमें यदि साहस न हो तो आप ऐसा न करें। चाहे जमनालालजी को छोड़ भी दें। किन्तु आप जमनालालजी को आशीर्वाद तो दें, क्योंकि वह तो धर्म ही के लिए ऐसा करते हैं। आप इनको क्यों पीछे हटाना चाहते हैं? चाहे तो जमनालालजी से प्रतिज्ञा करालो कि जो शौचादि को न मानें उस ब्राह्मण या अब्राह्मण किसीके भी हाथ का वे न खायें। किन्तु इससे थोड़े ही आपका काम बनेगा। आप तो पंचों के त्रास से भयभीत हैं और इसलिए जमनालालजी से आग्रह करते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि समाज को तो मैं भी मान देता हूँ, हमें हर बात में समाज से नहीं लड़ना चाहिए। किन्तु आज का समाज कैसा समाज है? यदि गंगोत्री मैली हो जाय, तो क्या फिर गंगा का पानी स्वच्छ रह सकता है? आज के पंच पंच कहाँ रह गये? पंच तो गंगोत्री है, और जैसे गंगोत्री का पवित्र प्रवाह गंगा में बहता है वैसे ही पंच समाज को पवित्र प्रेरणा और न्यायबुद्धि देते हैं। किन्तु वर्तमान के पंच तो राक्षसी हैं। आज के पंच पाखंड से, स्वार्थ से, क्रोध से और द्वेष से भरे हुए हैं। मेरी तो यह भविष्यवाणी है। आप इसे मानिए कि आज के पंचों का अन्याय हम नहीं मेट सके तो इस समाज का नाश हो जायगा। पंच न्याय कहाँ करते हैं? धर्म की बड़ी-बड़ी

बातें बनाने से न्याय नहीं हो सकता। वर्तमान के पाखंडी पंचों से तो डरना भी अन्याय है। उनके जुल्म का सामना करके मरना ही अच्छा है। पंच-गंगोत्री मैली हो गई है। इसे शुद्ध करने के लिए हरएक को मर मिटना चाहिए। यह धर्म के नाम पर पाप फैलाया जाता है। उसीका जमनालालजी सामना कर रहे हैं। उन्हें आप आशीर्वाद दें। आगे की पीढ़ी तो कहेगी कि जमनालालजी ने धर्म को बचा लिया। लाखों अछूतों को हिन्दू रख लिया। रावण के दस सिर क्या थे, यह तो उसकी दस तरह की दुष्ट बुद्धि थी। उसी दुष्ट बुद्धि का सामना विभीषण ने किया। आप यदि सामना नहीं कर सकते, इतना साहस नहीं है, तो जमनालालजी आपको नहीं कहते कि आप भी उनके साथ चलें। जमनालालजी तो कहते हैं कि आप उनके साथ न चल सकें तो उन्हें छोड़ दें, किन्तु आप उनका मोह क्यों करते हैं ? उन्हें भी अग्रवाल-समाज के सुधार का मोह छोड़ देना चाहिए। जो संन्यासी हो गया उसे कौन बाँधता है ? जमनालालजी का तो आज विशेष धर्म बन गया है। वह तो अब व्यापक समाज की ही सेवा कर सकते हैं। उसीमें अग्रवाल-समाज की भी सेवा आ जाती है। आप जमनालाल जी को छोड़ दें, किन्तु उनके लिए प्रेम क़ायम रक्खें और पंचायत के जो लोग विरोधी हैं उनके प्रति भी क्रोध न

करें। हम क्रोध को अक्रोध से और अशान्ति को शान्ति से ही जीत सकते हैं। पंचायत के लोग क्रोध के पात्र नहीं हैं, दया के पात्र हैं। वे तो अवश्य ही समझते हैं कि हम समाज का भला कर रहे हैं। उन्हें क्या पता कि वे धर्म के नाम पर जुल्म करना चाहते हैं। इसलिए आप तो उनसे भी प्रेम करो और जमनालालजी को आशीर्वाद दो कि वह धर्म की रक्षा और अन्याय का सामना करने में कृतकार्य हों।"

गांधीजी का वक्तव्य समाप्त होने पर सब लोग चुप हो गये। सन्नाटा-सा छा गया, किसीसे उत्तर देते नहीं बना। एक वृद्ध सज्जन ने चुपके से पगड़ी उतार कर गांधीजी के पैरों में रख दी और कहने लगे—"महाराज, आपने जो कहा उसे सुन कर तो मैं गद्‌गद् हो गया।" उस वृद्ध से अधिक कहते न बन पड़ा, किन्तु पंचों के त्रास से वह भी भयभीत था।

हिन्दू समाज, भगवान तेरा भला करे !

× × ×

गांधीजी जब चर्खा चलाने बैठते हैं तो कातनें की धुन में इतने मस्त रहते हैं, मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो। और किसी भी गहन-से-गहन विषय पर उनसे बातें कीजिए, उनके कातने में कोई विघ्न नहीं पड़ता। असल

में तो एक ओर सूत का अपने आप उनके हाथ की पूनी में से निकलते जाना, दूसरी ओर उनकी अबाधित वचन-धारा का प्रवाह, और साथ में चर्खे का संगीत, यह हर भावुक के मन मोहने को पर्याप्त है। मैं तो हर रोज़ उनके कातने के समय अपनी चक्की चलाने जा बैठता हूँ। एक दिन वही बछड़े की कथा छिड़ी। मैंने कहा—"महात्माजी, श्रीकृष्ण ने भी बछड़ा मारा था; किन्तु वह तो आलंकारिक ज़माना था, इसलिए बछड़े का वत्सासुर होगया। किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में तो लोग सीधी-सादी भाषा ही में बोलते हैं, इसलिए आपके इस काम ने खाली हलचल पैदा कर दी। आपने बहुत से साहस किये, किन्तु इसमें तो हद्द होगई। मुझे तो मालूम होता है, आपने इससे अधिक साहस का कोई और काम अपने जीवन में नहीं किया होगा।"

गांधीजी ने कहा—"ऐसी तो क्या बात है, मैंने तो सब कुछ सहज स्वभाव से ही किया है।"

"तो आपने ऐसा कौन-सा काम किया है जिसे साहस की दृष्टिसे आप अपने जीवन में ऊँचे-से-ऊँचा स्थान दे सकें?" मैंनें पूछा।

"इस दृष्टि से तो मैंने कभी नहीं विचारा।" गांधीजी ने कहा, "किन्तु, मैं समझता हूँ, बारडोली-सत्याग्रह स्थगित

करके मैंने बहुत बड़े साहस का परिचय दिया। २४ घंटे पहले सरकार को चुनौती देकर ललकारना और फिर अचानक सत्याग्रह को स्थगित करना, यह अपने आपको बेहद हास्यास्पद बनाना था; किन्तु मैं तनिक भी न झिझका। जो सत्य था वही मेरा राजमार्ग था और इसलिए मेरी अपनी हँसी होगी, इस विचार ने मुझे कभी भयभीत नहीं किया। मेरे जीवन के बड़े साहसिक कामों में का यह एक था, ऐसा मैं मान सकता हूँ।"

"सविनय आज्ञा-भंग अचानक बन्द करना पड़ा, इससे आपको क्लेश नहीं हुआ ?"

"किंचित् भी नहीं।" गांधीजी ने दृढ़ता से कहा।

जिस सीता के लिए लाखों बन्दर और राक्षसों के प्राण गये, उसे छोड़ देने में राम को कुछ हिचकिचाहट न हुई। और जिस सविनय आज्ञा-भंग के लिए हज़ारों लोगों को जेल-यातनायें मिलीं उसे ढाह देने में गांधीजी को कोई संकोच नहीं हुआ। त्रेता में लोगों ने राम को भला-बुरा कहा होगा। कलि में गांधीजी को लोगों ने खरी-खोटी सुनाई। किन्तु कौन कह सकता है कि गांधीजी ने जो किया वही ठीक न था ? असल में तो बड़े लोगों को समझने के लिए कुछ प्रयास की ज़रूरत पड़ती है। गांधीजी लँगोटी मार कर रहते हैं, सस्ते-से-सस्ता खाना खाकर निर्वाह करते

हैं, तो भी उस सबके नीचे छिपी हुई चमक कभी-कभी लाखों में चकाचौंध मचा ही देती है। गांधीजी लँगोटी मार कर ग़रीबों की तरह रहते हैं, इससे उनकी बुद्धि ग़रीब नहीं हो गई है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बाज़-बाज़ मौक़ों पर गांधीजी के वचन और कर्म को ठीक-ठीक समझने के लिए मनुष्य को विशेष प्रयास की ज़रूरत पड़ती है। हम रोज़मर्रा यह देखते हैं कि अख़बार वाले गांधीजी से वार्त्तालाप करके कुछ छाप देते हैं और पीछे गांधीजी को उसका खंडन करना पड़ता है। कारण यह है कि गांधीजी को लोग ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। गांधीजी अहिंसा-अहिंसा पुकारते न कभी थके, न थकते हैं। अहिंसा के तो मानों वह अवतार बन गये हैं। फिर भी बछड़े की प्रख्यात हिंसा करते न केवल उन्हें हिचकिचाहट नहीं हुई, उलटा उसे उन्होंने धर्म माना। साधारण लोग तो सुनते ही हक्के-बक्के रह गये। किसी ने आँसू बहाये, किसी ने गालियाँ दीं; किन्तु साबरमती के महात्मा पर उसका क्या असर हो सकता था? उन्हें तो लेना-देना है बस एक ही से। चर्खा चलाते हैं तो उसमें ईश्वरीय संगीत सुनते हैं। अलसी के तेल से मिली रोटी खाते हैं तो उसमें ईश्वरीय स्वाद का अनुभव करते हैं। दुःख में, सुख में, हँसने में, रोने में, जागने में, सोने में, चलने में, फिरने में अविच्छिन्न रूप से

जो मनुष्य ईश्वरीय अनुभव करता है, उसे जगत् की क्या पर्वाह ?

"सन्तन सँग बैठ-बैठ लोक-लाज खोई,
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई ।"

यह गांधीजी का हाल है। जगत् से न उनको शर्म है, न जगत् का भय है।

मैंने एक रोज़ पूछा—"महात्माजी, उत्तरोत्तर आपकी आत्मोन्नति हो रही है, ऐसा कुछ आपको अनुभव होता है।" शील-संकोच से गांधीजी ने कहा, "मेरा तो ऐसा ही खयाल है।" मैंने कहा, "महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द की मण्डली क्या समझती है, मैं नहीं जानता; किन्तु मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, असहयोग-आन्दोलन के बाद आपकी आत्मा में बहुत चमक आगई है।" महात्माजी मौन रहे। एक बार लार्ड रीडिंग से गांधीजी की चर्चा चली थी, उसका मुझे स्मरण हो आया। गांधीजी उन दिनों जेल में थे। देश के नेताओं का ज़िक्र छिड़ने पर मैंने कहा, "मेरी राय में गांधीजी संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं।" वाइसराय ने कहा—"हाँ, यह ठीक हो सकता था, यदि उनके संगी-साथी सब-के-सब ईमानदार होते।" मैं वाइसराय का मतलब समझ गया। यह कोई नहीं कह सकता कि असह-योग के दिनों में गांधीजी की सारी-की-सारी मण्डली भली

थी। किन्तु गांधीजी को इससे क्या। मैंने उन दिनों एक बार कहा था—"महात्माजी, आपके इर्द-गिर्द के लोगों में कितनेक बुरे आदमी भी आगये हैं।" गांधीजी ने कहा—"मुझे क्या डर है, मुझे कोई धोखा नहीं दे सकता। जो मुझे धोखा देनें में अपनें को दक्ष समझते हैं, वे स्वयं अपने आपको धोखा देते हैं। मैं तो शैतान के पास भी रहने को तैयार हूँ; किन्तु शैतान मेरे पास कैसे रहेगा ? जो बुरे हैं, वे स्वयं मुझे त्याग देंगे।" हुआ भी ऐसा ही। आज महात्माजी की मण्डली में इने-गिने लोग बचे हैं। शुरू से आज तक के इनके जीवन पर दृष्टिपात करें तो सारा चित्र आँखों के सामने नाचने लगता है। राजा ने छोड़ा रौलेट-ऐक्ट के जन्म के समय। प्रजा ने छोड़ा बारडोली के निश्चय के समय। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, आर्य-समाजी, सनातनी, जात-पाँत, मित्र, स्नेही, सबने—किसी नें कब किसी नें कब—महात्माजी को समय पर छोड़ दिया। युधिष्ठिर स्वर्ग में पहुँचे तो एक कुत्ता केवल साथ में निभा। महात्माजी के स्वर्गारोहण तक कौन उनके साथ टिक सकेगा, यह भविष्य के गर्भ में है। मैंने एक दिन कहा—"महात्माजी, आप इतनी तेजी से दौड़ लगा रहे हैं, मैं नहीं समझता, अन्त तक बहुत व्यक्ति आपके साथ रह सकते हैं।" गांधीजी ने कहा, "यह तो मैंने २० साल पहले ही

सोच लिया था, और मुझे तो इसी में सुख है।" मैंने कहा, "यदि प्राचीन समय होता और भारतवर्ष के बाहर आप पैदा हुए होते, तो इतनी तेज़ी की चाल लोग बर्दाश्त न करते। या तो ईसा की तरह आपको सूली पर चढ़ना पड़ता, अथवा सुकरात की तरह ज़हर का प्याला पिलाया जाता। किन्तु यह तो ऋषियों का देश है और बीसवीं शताब्दी है, इसलिए लोगों ने आपके महात्मापन का टाइटल छीन कर ही सन्तोष कर लिया।"

गांधीजी ने हँस कर धीरे से कहा—"तो चढ़ा दें लोग मुझे भी सूली पर, मैं भी तैयार हूँ और प्रसन्नता के साथ तैयार हूँ।" पास बैठे लोगों ने लम्बी साँस ली। मेरे तो मन में आया कि इस मिश्रित अधर्म से तो कहीं अन्धकार ही अच्छा, जो अवतार को निकट ला देता। आज न तो अधर्म का ह्रास ही होता है और न अवतार ही आता है। यह दशा तो असहनीय है—किन्तु कोई क्या करे?

[२]

जीवन-निर्वाह की समस्या

गांधीजी के यहाँ त्याग का गुणगान रात-दिन रहता है। कम-से-कम कितने रुपयों में निर्वाह हो सकता है, इसीका प्रयोग होता रहता है। गांधीजी भी अलसी के तेल का प्रयोग इसलिए करते हैं, जिसमें जीवन-निर्वाह का

खर्च कम-से-कम हो। उनके इस आचरण के कारण वातावरण ही ऐसा बन गया है कि उनकी मण्डली में जीवन-निर्वाह की आवश्यक-से-आवश्यक सामग्रियों का उपभोग करना भी गुनाह-सा होगया है। सेठ जमनालालजी का चौका भी सेठाई से शून्य है। बे-मसाले की स्वादहीन एक तरकारी, मोटे टिक्कड़, दूध-दही तो औषधि के रूप में—यह रोज़मर्रा की रसद हैं। किसी मोटे मरीज़ के लिए तो आश्रम का भोजन या जमनालालजी का चौका रामबाण औषध है। किन्तु हरिभाऊ उपाध्याय जैसे अधमरे ब्राह्मण के लिए भी वहाँ वज़न बढ़ाने की कोई गुंजाइश नहीं। किसी भी आश्रमवासी बालक या बालिका के चेहरे पर मैंने शारीरिक ओज के चिन्ह नहीं पाये, यद्यपि त्याग का तेज़ काफी तादाद में टपकता है। संन्यासाश्रम का आदर्श भी यही था कि कम-से-कम खाओ, अधिक-से-अधिक उपजाओ। अर्थात् अल्प मात्रा से जीवन-निर्वाह कर अधिक-से-अधिक संसार की सेवा करो। यह स्वेच्छा का त्याग था। आश्रमवासियों की भी यह स्वयं-निर्मित क़ैद है। किन्तु भारत के जन-साधारण को आश्रमवासियों से अधिक कहाँ मिलता है? भारतवर्ष के प्रत्येक मनुष्य की आय का औसत गोखले नें २) माहवार निश्चित किया था। किसी-किसी ने इससे अधिक का अन्दाजा किया। किन्तु

भारतवर्ष को सब्ज़ बाग़ दिखलाने वाले अंग्रेज़ भी ४।।) माहवार से अधिक की आय नहीं साबित कर सके। भारतवासी की आय ४।।) और अंग्रेज़ की ५०) प्रतिमास !

आश्रमवासी बेचारे कम-से-कम खर्च करके भी १५) माहवार से कम में गुज़र नहीं कर सकते और भारत के दरिद्रनारायण ४।।) माहवार में किसी तरह कीड़े-मकौड़े का जीवन व्यतीत करते हैं। आश्रमवासियों ने तो अपने आप अपनें ऊपर क़ैद लगाई है, सुख को तिलांजलि दी है, देश के लिए फकीरी ली है, इसलिए हरिभाऊजी के अधमुए शरीर को देख कर तरस खाना बेकार है। किन्तु देश के जन-समुदाय नें कब संन्यास-दीक्षा ली थी, जो उनकी ग़रीबी को हम सन्तोष समझ बैठे हैं ? उनका सन्तोष क्या है, बुढ़िया का ब्रह्मचर्य है। उन्हें सन्तोष सिखाना उनकी ग़रीबी की निर्दय हँसी उड़ाना है। मैंने गांधीजी से कहा—"महात्माजी, त्याग तो आपको और आपके चेले-चाँटियों को ही शोभा दे सकता है; किन्तु देश के असंख्य दरिद्रों को त्याग की कौन-सी गुंजाइश है ? वे तो पहले से ही आधा पेट भोजन करते हैं। और फिर यदि वे लोग समझ बैठें कि ४।।) माहवार या इससे भी कम में निर्वाह करना ही हमारा कर्त्तव्य है, तो फिर स्वराज्य की भावना को प्रोत्साहन देना फ़िज़ूल है। स्वराज्य की भावना दो ही

कारणों से देश में पैदा हो सकती है—या तो धार्मिक असंतोष के कारण, या आर्थिक वेदना के कारण। यूरोपीय देशों में पेट की चिंता ने स्वराज्य की भावना को जाग्रत रक्खा। यहाँ धार्मिक असन्तोष ने समय-समय पर सुधर्मियों के राज्य की भावना को प्रोत्साहन दिया। किन्तु अंग्रेज़ों ने न हमारे मन्दिर गिराये, न मुसलमानों की मस्जिदें तोड़ीं। इसीलिए स्वराज्य की भावना तो तभी पैदा हो सकती है, जब हम यह महसूस करें कि हमारी आर्थिक हीनावस्था बिना स्वराज्य के नहीं सुधर सकती। किन्तु इस दारिद्रय को ही आदर्श मानें तब तो फिर स्वराज्य के लिए कोई क्यों लड़ें ? इसलिए मेरी बुद्धि में तो जहाँ यह अपने आप धारण की हुई ग़रीबी आश्रमवासियों एवं अन्य कार्यकर्ताओं के लिए भूषण है, जनता की बेबस ग़रीबी ग़रीबों का और देश का दूषण है। उन्हें तो हम यह कहें कि तुम्हारे पास जीवन-निर्वाह की सामग्री स्वल्प है, उसको मर्यादा के भीतर बढ़ाने का उद्योग करना तुम्हारा धर्म ह।" महात्मा जी ने कहा—"मैं ग़रीबों को जीवन की आवश्यकीय सामग्री बटानें के लिए कहाँ कहता हूँ ? आज गरीब जितने में निर्वाह करता है वह तो हमारे लिए शर्माने की बात है। वर्तमान ग़रीबों का जीवन तो पशुओं का जीवन है। उनके सामने त्याग की बातें करना निर्दयता

है। जिनके पास काफी सामग्री है, या जो सेवा करना चाहते हैं, मैं तो उन्हें ही ग़रीब बननें का उपदेश करता हूँ।" मैंने कहा, "आपके साहित्य के पढ़ने से तो कुछ भ्रम पैदा हो सकता है। आप अलसी के तेल पर निर्वाह करें और आपकी मण्डली आपका अनुकरण करे, तो फिर लोग शायद यह भी समझ सकते हैं कि देश का हर मनुष्य कम-से-कम खाकर जीये।" गांधीजी ने कहा, "लेकिन मेरा साहित्य ग़रीबों के लिए थोड़े ही है। जब ग़रीब लोग पढ़े-लिखे होने लगेंगे और मेरा साहित्य पढ़ने लगेंगे, तो शायद मुझे कुछ थोड़ा-सा फेरफार करना पड़े। किन्तु आज तो मैं त्याग का गुणगान धनी या मध्यम वर्ग के लोगों के लिए ही करता हूँ। ग़रीबों को त्याग क्या सुझाऊँ, वे तो परवशात् त्यागी बन बैठे हैं। उन्हें तो इससे अधिक की आवश्यकता है।" मैंने पूछा, "आपकी राय में हर मनुष्य को खाने-पहनने और सुख से रहने के लिए कितनें व्यय में निर्वाह करना चाहिए?" गांधीजी ने कहा, "जितने में सुखपूर्वक स्वस्थ रहते हुए निर्वाह कर सके।"

"यानी रोटी, दाल, भात, तरकारी, फल, घी, दूध, सूती-ऊनी कपड़े, जूते?"

गांधीजी ने कहा—"जूते की आवश्यकता मैं इस देश में नहीं समझता, शायद खड़ाऊँ की आवश्यकता हो; घी

तो ज्यादा नहीं चाहिए।"

मैंने पूछा--"दंत मंजन, साबुन, ब्रुश इत्यादि।

गांधीजी ने कहा--"अरे, इसकी कहीं आवश्यकता हो सकती ह ?"

मैंने पूछा,--घोड़ा ?"

सब लोग हँसने लगे। मैंने पूछा, "खैर, आपकी राय में ग़रीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए ?" १००) माहवार से कम में कैसे कोई सुखपूर्वक गुज़र करे, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसलिए मैंनें १००) का तखमीना रक्खा। हरिभाऊजी ने कहा--"मैंने साधारण आदमी का बजट गढ़ कर देखा था, ५०) प्रति मास काफ़ी है। "महात्मा जी को तो ५०) भी ज्यादा जँचे। "२५) माहवार तो काफी हैं।"—यह उन्होंने अनुमान लगाया। मैंने कहा, "यह तो असम्भव है।" गांधीजी ने कहा, "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तखमीना करलो। यदि २५) से ज्यादा आता है तो भी मुझें क्या उज्र है; किन्तु मैं जानता हूँ कि २५) माहवार हर मनुष्य को खानें को मिले तो यहाँ राम-राज्य आ जाये।"

"और यदि किसी-किसी को ५०) से ज्यादा मिल जाये तो ?" मैंने पूछा।

"ज्यादा मिल जाये तो उसका उपभोग करे।" गांधीजी ने उत्तर दिया, "किन्तु वह तो फिजूलखर्ची है, ऐसे मनुष्य को तो मैं त्याग का ही उपदेश करूँगा।"

मैंने पूछा—"महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय २००) औसत या इससे भी अधिक हो जाये, तो आपको क्या उज्र हो सकता है ?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा—"उज्र नहीं हो सकता है ? उज्र तो हो ही सकता है। संसार में प्रकृति जितना पैदा करती है वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाये; किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज़ पैदा नहीं करती। इसके मानी तो यह हैं कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसीलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से ५०) से अधिक जो अपने लिये खर्चते हैं, वह लुटेरे हैं। इंग्लैण्ड एक छोटा-सा देश है, वहाँ के ३॥ करोड़ आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाड़ा जा रहा ह। किन्तु भारत के ३२ करोड़ मनुष्य यदि २००) माहवार या अधिक खा जाने का प्रयत्न करें तो संसार तबाह हो जाये। भगवान् वह दिन न लावे

तो ज्यादा नहीं चाहिए।"

मैंने पूछा--"दंत मंजन, साबुन, ब्रुश इत्यादि।

गांधीजी ने कहा--"अरे, इसकी कहीं आवश्यकता हो सकती ह ?"

मैंने पूछा,--घोड़ा ?"

सब लोग हँसने लगे। मैंने पूछा, "खैर, आपकी राय में ग़रीब आदमी का बजट कितने रुपये का होना चाहिए ?" १००) माहवार से कम में कैसे कोई सुखपूर्वक गुज़र करे, यह तो मेरे जैसे मनुष्य की बुद्धि के बाहर की बात थी। इसलिए मैंनें १००) का तखमीना रक्खा। हरिभाऊजी ने कहा--"मैंने साधारण आदमी का बजट गढ़ कर देखा था, ५०) प्रति मास काफ़ी है। "महात्मा जी को तो ५०) भी ज्यादा जँचे। "२५) माहवार तो काफी हैं।"—यह उन्होंने अनुमान लगाया। मैंने कहा, "यह तो असम्भव है।" गांधीजी ने कहा, "अच्छा, जो स्वास्थ्य के लिए चाहिए उतनी सामग्री का तखमीना करलो। यदि २५) से ज्यादा आता है तो भी मुझें क्या उज्र है; किन्तु मैं जानता हूँ कि २५) माहवार हर मनुष्य को खानें को मिले तो यहाँ राम-राज्य आ जाये।"

"और यदि किसी-किसी को ५०) से ज्यादा मिल जाये तो ?" मैंने पूछा।

"ज्यादा मिल जाये तो उसका उपभोग करे।" गांधीजी ने उत्तर दिया, "किन्तु वह तो फिजूलखर्ची है, ऐसे मनुष्य को तो मैं त्याग का ही उपदेश करूँगा।"

मैंने पूछा—"महात्माजी, यदि प्रत्येक मनुष्य की आय २००) औसत या इससे भी अधिक हो जाये, तो आपको क्या उज्र हो सकता है ?"

महात्माजी ने आवेश के साथ कहा—"उज्र नहीं हो सकता है ? उज्र तो हो ही सकता है। संसार में प्रकृति जितना पैदा करती है वह तो इतना ही है कि हर मनुष्य को आवश्यक वस्त्र और जीवन-निर्वाह की अन्य आवश्यक सामग्री सुखपूर्वक मिल जाये; किन्तु प्रकृति मनुष्य के अपव्यय के लिए हर्गिज़ पैदा नहीं करती। इसके मानी तो यह हैं कि यदि एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक उपभोग कर लेता है तो दूसरे मनुष्य को भूखा रहना पड़ता है और इसीलिए जो अधिक उपभोग करता है उसे मैं लुटेरे की उपमा देता हूँ। इस हिसाब से ५०) से अधिक जो अपने लिये खर्चते हैं, वह लुटेरे हैं। इंग्लैण्ड एक छोटा-सा देश है, वहाँ के ३॥ करोड़ आदमियों के भोग-विलास के लिए आज सारा एशिया उजाड़ा जा रहा ह। किन्तु भारत के ३२ करोड़ मनुष्य यदि २००) माहवार या अधिक खा जाने का प्रयत्न करें तो संसार तबाह हो जाये। भगवान् वह दिन न लावे

कि भारत के लोग अंग्रेजों की तरह उपभोग करना सीखें। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो ईश्वर ही रक्षा करे। ३।। करोड़ की भोग-पिपासा मिटाने में तो यह देश मरा जा रहा है, ३२ करोड़ आदमियों की भोग की भूख मिटाने के लिए तो संसार को मरना होगा।" मैंने कहा—"महात्माजी, यदि ५०) या १००) से अधिक खानेवालों को लुटेरे समझें तब तो मारवाड़ी, गुजराती, पारसी, चेट्टी इत्यादि सब लुटेरे हैं।"

महात्माजी ने गम्भीरता से कहा—"इसमें क्या शक है। वैश्यों के हित प्रायश्चित्त करने के लिए ही तो मैंने वैश्यपन छोड़ा है।"

मार्च, १९२९

: २ :

'प्रेमी की व्याकुलता'

"गांधीजी ८८ पौंड हो गये," यह पढ़कर मैं सहम गया। क्या लिखूं! उन्हें कोई नहीं मना सकता। मैंने उन्हें लिखा था कि आपको faddist या 'चक्रम' कहना चाहिए। उन्होंने कहा, 'चक्रम' के माने तो होते हैं 'पागल'। किन्तु वह हैं और क्या? मुझे तो चिन्ता होती है कि कोई नुक़सान न हो जावे। फिर भी अक़्ल के पूरे लोग हैं जो उन्हें कहते हैं, शहद क्यों खाते हो? हम तो सब कुछ करें मगर दुनिया सब भोग हमारे लिए छोड़ दे, यह जाने-अनजाने हमारी सबकी प्रवृत्ति हो रही है। गांधीजी ने क्या रखा है? सब तो छोड़ दिया, फिर भी हमें उनका शहद खाना भी बरदाश्त नहीं। ऐसे लोगों की अक़्ल पर पत्थर। एक मित्र से मैंने एक कहानी कही—

"एक बुड्ढा पागल था। रोज़ लोगों की सेवा करता था, लोगों का मैल धोता था, उन्हें रोटी देता था, उन्हें ज्ञान देता था। किन्तु स्वयं थोड़े-से अन्न-वस्त्र पर निर्वाह करता था। लोगों ने उसकी तारीफ की।

एक मूर्ख ने कहा—"इसमें तारीफ की कौन-सी बात है ? बुड्ढा पूरे कपड़े पहनता है।"

बुड्ढे ने सुन लिया और कपड़े फेंक दिये।

दूसरे मूर्ख ने कहा—"ओ हो, इसमें क्या है ? बुड्ढा दूध, फल काफ़ी खा जाता है।"

बुड्ढे ने दूध भी छोड़ दिया, फल भी छोड़ दिये।

फिर एक मूर्ख ने कहा "और यह तो रोटी खाता है।"

बुड्ढे ने कच्चा चना चबाना शुरू कर दिया।

चौथे ने कहा—"देखो, स्वाद नहीं मरा, शहद खा जाता है।" बुड्ढे ने शहद भी छोड़ दिया।

पाँचवें ने कहा—"आखिर खाता तो है।" बुड्ढे ने खाना भी छोड़ दिया।

छठे ने कहा—"पानी तो पीता है।" तब पानी को अन्तिम नमस्कार कर बुड्ढा एक रात को राम-राम करते-करते मर गया।

सुबह हुई तो न कोई सेवा करनेवाला, न रोटी देनेवाला। लोग खूब रोये। बुड्ढे की तारीफ भी काफ़ी

की। किन्तु किसीने यह नहीं कहा कि हमीं ने बुड्ढे को मार दिया।

"हरिभाऊजी, शहद पर यह नुक्ताचीनी करनेवालों से आप 'त्यागभूमि' द्वारा पूछिए कि वे इस बुढ़ऊ को जीने देंगे कि नहीं? जब मर जाते हैं तब मरनेवालों को रोते हैं। मरने के बाद बाप का श्राद्ध करते हैं। पर जीते जी उन्हें शहद भी नहीं खाने देते। मेरी चले तो मैं नहीं जानता क्या करूँ?"

अगस्त, १९३०.

: ३ :

मन्दिर-प्रवेश बिल

गांधीजी हैं तो बन्दी; किन्तु हैं अद्भुत बन्दी। जेल की चार-दीवारी के भीतर हैं; किन्तु ऐसा मालूम होता है मानों सबके बीच में हैं। जो लोग उनसे मिलने जाते हैं, वे तो इस बात को महसूस ही नहीं करते कि गांधीजी क़ैद में हैं। किन्तु जो लोग उनसे नहीं मिलते हैं, वे भी भूल-से गये हैं कि गांधीजी जेल में हैं। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है, मानों आश्रम में बैठे गांधीजी "हरिजन" का सम्पादन कर रहे हैं। शायद दुनिया के इतिहास में यह एक ही घटना ह कि एक महापुरुष बन्दी भी हो और स्वतन्त्र भी। गांधीजी को अछूतों के सम्बन्ध में सब तरह का प्रचारकार्य करने की इजाज़त है; किन्तु

अन्य बातों के लिए कोई इजाज़त नहीं। तो भी वह क्या कहते हैं और क्या सुनते हैं, इसके प्रबंध के लिए कोई पहरा भी नहीं है। क़ैदी भी हैं स्वयं गांधीजी और प्रहरी भी हैं स्वयं वही। पक्षी और प्रतिपक्षी दोनों का विश्वास कैसे संपादन किया जा सकता है, उसकी गांधीजी एक बेनज़ीर मिसाल हैं।

"अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

इस सूत्र को यदि किसीको चरितार्थ देखना हो तो वह गांधीजी को ख़ुर्दबीन से देखे।

हरिजनों के हितार्थ महात्माजी ने २० सितम्बर को उपवास प्रारम्भ किया, २४ सितम्बर को हरिजनों और उच्चवर्ण के हिन्दुओं के बीच क़रारनामा बना और २६ सितम्बर को इस क़रारनामे की घोषणा सरकार की ओर से की गई। महात्माजी जब उपवास-शय्या पर लेटे हुए थे, तब पास में जानेवालों की तो बात ही क्या, दूरवालों के भी चेहरे उतरे हुए थे। ऐसी हालत में यह छः दिन क्या निकले, मानों छः साल निकले। यह स्वाभाविक है कि दुःख का एक पल भी कल्प-जैसा बीतता है। किन्तु चिंताग्रसित लोगों को ये छः दिन छः साल-जैसे लगे, वैसे ही इन छः दिनों ने काम भी छः साल का ही किया।

जिस दिन से उपवास की घोषणा हुई, उसी दिन से

हरिजनों के उत्थान की गाड़ी तेज़ी से दौड़ने लगी। जगह-जगह मंदिर खुलने लगे। कुएँ खुले। गुरुवायु के सनातनियों ने तो कमाल कर दिखाया। बहुमत ने हरिजनों को मंदिर-प्रवेश की इजाज़त देदी। गायकवाड़ और काश्मीर-नरेशों ने अपने यहाँ मन्दिर खोलने की आज्ञा दे डाली। प्रयाग में सनातनधर्म-सभा ने भी इसी प्रकार के प्रस्ताव पास किये। इन पाँच महीनों में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, तथापि यह सही है, कि अभी काफ़ी मंज़िल पड़ी है। पर जो कुछ हुआ है, वह भी एक चमत्कार ही समझना चाहिए।

सनातनी भाइयों का विरोध बढ़ रहा है। किन्तु वह एक प्रकार से अच्छा है। जो सुधार बिना विरोध के होते हैं, उनकी बुनियाद पक्की नहीं हो सकती। बीज का अंकुरित होनें से पहले फटना आवश्यक है। तभी तो एक बीज के सहस्त्रों बीज बन जाते हैं। आज जो हिन्दू जाति की दशा है, उसकी अंकुरित होनेवाले बीज से तुलना की जा सकती है। हिन्दू-जाति के हृदय का इस समय मन्थन हो रहा है। इसका परिणाम तो शुभ ही होगा।

मन्दिर-प्रवेश बिल के सम्बन्ध में गहरी ना-समझी छाई है। इसके कारण कुछ लोगों में सच्ची व्याकुलता है। "धर्म के मामले में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए" यह चिल्लाहट ज़ोरों से हो रही है। मैं तो

इस बात को नहीं मानता कि धर्म के मामले में सरकार का हस्तक्षेप हो ही नहीं। हिन्दू-लॉ क्या है और किसके सहारे टिकता है ? यदि सरकार का दखल न हो तो हिन्दू-लॉ का शासन कैसे सम्भव है ? राजा धर्म का रक्षक है, यह तो हिन्दुओं का प्राचीन सूत्र है। यदि हमारी निज की सरकार हो तो यह सूत्र सर्वमान्य होगा। परन्तु विदेशी सरकार का दखल भी अनिवार्य तो है ही। सती-निषेध क़ानून, विधवा-विवाह क़ानून और बालविवाह-निषेध क़ानून, ये चाहे अच्छे हों या बुरे, इनमें सरकार का सहयोग तो था ही, और होना भी चाहिए। किन्तु जो सनातनी इन क़ानूनों को बुरा बतलाते हैं, वे भी जानते हैं कि यदि सरकार का धार्मिक मामलों में दखल न होता तो हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश आज अत्यन्त सुलभ हो जाता।

आख़िर हरिजनों के मंदिर-प्रवेश को रोकता कौन है ? हिन्दू-जाति का बहुमत तो कदापि नहीं रोकता। रोकता है प्रचलित क़ानून। क़ानून का हुक्म यह है, कि अछूत मंदिरों में न जा सके। अगर वह जाता है तो क़ानून की हुक्म-उदूली करता है और सज़ा का भागी होता है। ऐसे बेहूदे क़ानून को मिटाने के लिए यदि कोई नया क़ानून बने तो उन लोगों को तो विरोध करने का कोई अधिकार ही नहीं है, जो धार्मिक मामलों में सरकार की

दस्तन्दाज़ी नहीं चाहते। बात तो यह है कि यह क़ानून, कम-से-कम, हरिजनों के मामले में सरकार की दस्तन्दाज़ी रोकने के लिए ही बनाया जारहा है और इसीलिए सबके समर्थन करने योग्य है।

२३ फरवरी १९३३

: ४ :

गांधीजी और अभिमान

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल का विरोध करते हुए महामना पूज्य मालवीयजी ने गांधीजी को लिखा है कि "आप उतावले न हों, धीरे-धीरे चलें । अभिमान से तपश्चर्या कलुषित होजाती है ।"

पंडितजी का यह लिखना, पंडितजी के कितने ही मित्रों को कुछ अखरा ज़रूर, क्योंकि पंडितजी से बढ़कर बोलने या लिखने में विवेक करनेवाले थोड़े ही लोग होंगे । संभव यही जान पड़ता है कि पंडितजी के लिखने का भाव ही कुछ और ही था । तो भी गांधीजी की मनोवृत्ति के सम्बन्ध में यहां कुछ चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा ।

साधारणतया तो यही समझ में आता है कि जहां

अभिमान हो वहाँ तप संभवित नहीं। "तपस्वी को अभिमान हो" यह परस्पर विरोधी-जैसे वाक्य जान पड़ते हैं। हाँ, नीचे की तरफ़ सिर करके अग्नि के ऊपर उलटा झूला खानेवाले खाकी बाबा को तो अभिमान की कमी नहीं होती, किन्तु इन उलटा झूला खानेंवालों को तो शायद ही तपस्वी कहना चाहिए। हाँ, गीता में ऐसे राजसी और तामसी तपों का वर्णन है सही; जो या तो सत्कार, मान और पूजा के लिए दंभपूर्वक अथवा दुराग्रह से किसीके नाश के लिए किये जाते हैं। परन्तु गांधीजी के दुश्मन भी यह नहीं कह सकते कि गांधीजी उपर्युक्त प्रकार के निकृष्ट श्रेणी के तप करनेवालों में से हैं; इसलिए यदि गीता के अनुसार,

> **(देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।**
> **ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥**
> **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।**
> **स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङमयं तप उच्यते।**
> **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।**
> **भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥**
> **श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।**
> **अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते॥)**

गांधीजी सात्विक तपस्वियों में से हों, तो फिर उनपर अभिमान का आरोपण करना तप की महिमा को घटाना होगा।

पिछले दिनों, जब मैं पूना गया, उस समय गांधीजी से मैंने उनकी उपवास-नीति की चर्चा छेड़ी। मैंने गांधीजी से कहा कि "मुझे तो मालूम होता है कि आपने उपवास द्वारा प्राण छोड़ने का संकल्प कर लिया है। शायद आप यह सोचते होंगे कि अब बहुत दिन तो जीना है नहीं; इस-लिए मरना ही है तो फिर मृत्यु से भी क़ीमत क्यों न अदा की जाय। आप सेवा के लिए ही जिन्दा रहे और शायद सेवा के लिए ही आप प्राण छोड़नें का भी संकल्प करते हों। यदि यही संकल्प हो तो फिर जहाँ एक प्रश्न आपके इच्छानुसार हल हुआ कि आप और एक दूसरा प्रश्न कहीं और अधिक महत्व का पकड़ बैठेंगे और इस तरह आगे बढ़ते-बढ़ते, शायद एक ऐसे प्रश्न को आप पकड़ बैठें, जिसका हल होना लोगों की शक्ति से बाहर हो और उसी प्रश्न पर आप प्राण छोड़ दें। जीवन से जैसे आपने लोगों को शिक्षा दी, वैसे ही मृत्यु से भी शिक्षा देना चाहते हैं।"

हिन्दू-जाति के इतिहास में भावुक लोगों के अनशन-व्रत धारण करके, या तो काशी-करवत लेकर या गंगा-प्रवाह लेकर प्राण त्याग देने के, कई उदाहरण मिलते हैं।

"सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को लैहों करवत काशी।"

यह सूरदासजी की प्रिय अभिलाषा थी। पांडवों ने भी जान-बूझकर प्राण छोड़े थे। यद्यपि गांधीजी के उपवास

से इन दृष्टान्तों का कोई मिलान नहीं खाता, तो भी मुझे यह खयाल आया कि मृत्युद्वारा भी गांधीजी लोगों के लिए एक और उदाहरण छोड़ जाना चाहते हैं। इसलिए मैंने गांधीजी से उपर्युक्त बातें कहीं।

गांधीजी के उत्तर ने मेरी इन शंकाओं को बिलकुल रफ़ा कर दिया। गांधीजी ने कहा "इस बहम को तुम अपनें दिमाग़ से ही निकाल डालो। जो मनुष्य मरने की तैयारी करता है, वह न तो नई-नई भाषायें सीखने का प्रयत्न करता है और न तुम्हारे पास से एक्सचेंज और करेंसी का साहित्य मँगाकर अर्थशास्त्र का पंडित ही बननें की कोशिश करता है। मैं तो बंगला सीख रहा हूँ तथा एक-आधी और भी भाषा सीख रहा हूँ। मैं न तो अपने आपको बूढ़ा मानता हूँ, न इस बात का विचार ही करता हूँ कि कब मरना है और कबतक जीना है। जो वस्तु मेरे अधिकार के बाहर की है उसपर विचार करना, यह मेरा काम ही नहीं है। इसलिए मैंने, जैसा तुम बताते हो, वैसा कोई निर्णय किया है इस कल्पना को ही दिमाग़ से निकाल दो।"

किन्तु उन्होंने एक बात और कही, जो उपर्युक्त शब्दों से कहीं अधिक महत्व की थी। उन्होंने कहा, "मेरी मृत्यु किसी निमित्त को लेकर हो, इस कल्पनामात्र में भी मैं अभिमान देखता हूँ। यदि मुझसे पूछा जाय कि सेवा करते-

करते मरना पसन्द करोगे, या खटिया पर रोगी होकर पड़े-पड़े, तो मैं यही कहूँगा कि जैसी प्रभु की इच्छा हो, उसी तरह से। मैं कैसे मरूँ इसका विचार करना, यह मेरा नहीं, मेरे करतार का काम है। और मेरे लिए इस सम्बन्ध में कुछ भी कामना करना, यह अभिमान है।"

यह बात मुझे कुछ अद्भुत जान पड़ी। श्रद्धालु लोगों को भक्ति-भाव से गाते सुना है--

"इतना तो करना भगवन् जब प्राण तन से निकलें;
श्रीराम-नाम कहते यह प्राण तन से निकलें।
श्रीगंगाजी का तट हो, यमुना का वंशी-वट हो;
मेरा साँवला निकट हो, तब प्राण तन से निकलें।"

गांधीजी का ऊपर का कथन सुनने के बाद तो मालूम होता है कि यह पद्य भी अभिमान से शून्य नहीं है।

प्रस्तुत विषय इतना ही है कि गांधीजी ने कैसे अपनी हृदय-कन्दरा के कोनों को ढूँढ़-ढूँढ़कर अभिमान-शून्य बना रखा है, इसका साक्षी उनके ऊपर के वचन हैं।

२ मार्च १९३३

: ५ :

शास्त्र भी और अक्ल भी

हिन्दू समाज में कोई सुधार की बात चली कि शास्त्र मोर्चे पर आ डटे। यही दशा अस्पृश्यता-निवारण आंदोलन में भी हुई है। शास्त्रों के पन्नों की इस समय काफ़ी उलट-पुलट है। यहाँ तक कि दोनों पक्षवाले शास्त्रों के अवतरण दे रहे हैं। गांधीजी ने भी पण्डितों का आह्वान किया और उनसे शास्त्रों की व्यवस्था पूछी। पण्डितों ने भी व्यवस्था सुनाई और श्री भगवान्‌दासजी, जो शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान हैं, इन व्यवस्थाओं को काशी के "आज" पत्र के साथ 'क्रोड़-पत्र' के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं, जो सचमुच पढ़ने और मनन करनेयोग्य हैं।

शास्त्रों की इस छान-बीन का यह प्रयत्न इस तरह से

मुबारक है, क्योंकि कम-से-कम इससे पुराने आर्य-इतिहास का कुछ पता तो चल ही जाता है। किन्तु जो बातें सीधी-सादी बुद्धि द्वारा समझ में आ सकती हों, उसमें ख्वाहमख्वाह शास्त्र को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना खतरनाक भी है।

हमने कब शास्त्रों से परामर्श किया था कि रेल, मोटर, हवाई जहाज, तार और बेतार का उपयोग करें या नहीं ? किसी ज़माने में मारवाड़ी भाई, धार्मिक बाधा के नाम पर, विदेशी चीनी के कट्टर विरोधी थे। अब इन्हीं मारवाड़ी भाइयों ने, जैसे जावा और मोरिशस में चीनी बनाई जाती है, उन्हीं तरीकों से चीनी बनाने के अनेकों कारखाने खोले हैं किन्तु कारखानों के बनाने के पहले कभी उन्होंने शास्त्रों की व्यवस्था नहीं पूछी और पूछने की भी क्या जरूरत थी। आखिर जो चीज हमें अपनी आँखों से साफ़ दिखाई देती हो, उसके लिए चश्मा चढ़ाना बेकार ही तो होगा।

एक प्रकांड शास्त्रज्ञ से गांधीजी ने अस्पृश्यता के सम्बन्ध में शास्त्र का मत पूछा, तो पण्डितजी ने यह कहा था कि हिन्दू शास्त्र ऐसी वस्तु है कि जिस चीज की चाह हो उसकी पुष्टि में और साथ ही उसके खंडन में भी प्रमाण मिल सकते हैं। यह बात उन पण्डितजी ने शास्त्रों की मर्यादा घटाने को नहीं कही थी। कही थी केवल वस्तुस्थिति का

दिग्दर्शन कराने के लिए। और उनकी यह शक्ति हमारे लिये चौंक उठने का भी कोई कारण नहीं है। हिन्दू धर्म में, जैसा कि ईसाई मजहब में एक ही धार्मिक ग्रन्थ "बाइबल" है और मुसलमानों के यहाँ एक ही ग्रन्थ "कुरान" है कोई एक चक्रवर्ती ग्रन्थ नहीं है। यहाँ तो सदा से विचार-स्वातन्त्र्य रहा है। फलस्वरूप एक ही नहीं चार वेद बने, एक नहीं छः दर्शन बने, अनेक पुराण बने, अनेक उपनिषद् बने, यहाँ तक कि अल्लोपनिषद् भी बन गया। ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास बढ़ा शास्त्र, साहित्य भी बढ़ता गया। शास्त्र के लिखनेवालों ने देश, काल को सामने रखकर कुछ अच्छी-अच्छी बातें लिखो, उन्हीं शास्त्रों में पीछे से ऋषियों ने देश, काल का परिवर्तन देखकर फिर कुछ और जोड़ दिया। जैसी जिस समय आवश्यकता हुई उसी तरह से यह जोड़-तोड़ भी बढ़ता गया। आर्य लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार और शास्त्रों का यही इतिहास है। इसलिए परस्पर विरोधी बातों का भी शास्त्रों में होना स्वाभाविक है। हिन्दू शास्त्रों की महत्ता ही यह है कि विचार-स्वातन्त्र्य को कभी आसनाच्युत नहीं होने दिया। यही हमारी ख़ूबी और ताक़त रही है। इसीके बल पर हम आजतक ज़िन्दा हैं। हम निभा ले जायँ तो हमारी यह ख़ूबी ही हमारी ज़िन्दगी का बीमा होगी।

आर्य शास्त्रों में काफ़ी कुंदन है। इतना है कि अन्य किसी मज़हबी ग्रंथ में नहीं; किन्तु आम के साथ गुठली भी है, रेशे भी हैं, इसलिए विवेक की आवश्यकता तो है ही। जो सर्व-मान्य शास्त्र माने जाते हैं उनमें भी ऐसी बातों की कमी नहीं है, जो बुद्धि के प्रतिकूल और अप्रामाणिक हैं; और इसलिए अमान्य हैं। भागवत में लिखे गये भूगोल को क्या हम मानेंगे ? पारद और गन्धक की उत्पत्ति की शिक्षा आचार्य राय से लेना अधिक प्रामाणिक होगा अथवा रस-ग्रंथों के वर्णन से ? सुश्रुत में लिखे गये भल्लातक के प्रयोग द्वारा एक सहस्र वर्ष की आयु प्राप्त करने की बात पर विश्वास करके क्या किसी को सफलता मिल सकती ह ? बात यह है कि जिस प्रकार हम नित्य समाचारपत्र पढ़ते समय रूटर की खबरों और विज्ञापनों के बीच अपनी अक्ल से विवेक कर लेते हैं और विज्ञापनों के वाक्यों पर, चाहे वे कितनी ही चित्ताकर्षक बातों से क्यों न भरे हों, जैसे हम ज्यों-का-त्यों विश्वास नहीं करते, उसी प्रकार हमें शास्त्रों के सम्बन्ध में भी करना चाहिए। जो लोग हमें यह सिखाते हों कि हम बुद्धि को पृष्ठक्षेत्र में रखकर संस्कृत के ग्रंथ की हर बात को वेदवाक्य मानें, वे एक प्रकार से शास्त्रों के बड़प्पन को घटाने की शिक्षा देते हैं।

वेद को हम ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं; किन्तु जिस चीज़

को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं उसकी सीमा भी अनन्त होनी चाहिए, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान सीमाबद्ध हो ही नहीं सकता। ईश्वरीय ज्ञान तो सम्पूर्ण, सर्वोत्कृष्ट, प्राचीनतम और नतनातिनूतन ही हो सकता है। किसी भी प्रकार का ज्ञान उसके बाहर नहीं छूट सकता। ऐसी हालत में यह भी मानना होगा, कि वेद केवल चार संहिताओं तक ही परिमित नहीं हो सकते। बेतार के तार का साहित्य चाहे चार संहिता-रूपी वेदों में न पाया जाय; किन्तु वह ईश्वरीय ज्ञान का अंश अवश्य है। इसलिए वेदों का वह भी एक भाग है। इस तरह हमें अपनी शास्त्र की कल्पना को भी विस्तृत बनाना होगा और अन्त में इस नतीज पर पहुँचना होगा कि जितना भी ज्ञान-समूह है वह सभी शास्त्र है, और जो सच्चे ज्ञान से भिन्न है, वह चाहे संस्कृत भाषा में हो चाहे अरबी या अंग्रेज़ी में, सारा अशास्त्र है।

हिन्दू समाज में वर्षों से अनेक विभाग बन गये हैं। अदृश्यता है, अस्पृश्यता है, अग्राह्यजलता है, असहभोजिता है और अववाहिकता है। इनमें अन्तिम दो विभागों से हम किसीको चोट नहीं पहुँचाते। हम किसीके यहाँ खाने को नहीं जाते, इसमें हम किसीका अपमान नहीं करते। न विवाह-शादी ही ऐसी चीज़ है कि किसीसे सम्बन्ध करने से इन्कार करने में हम किसीके साथ अन्याय करते हों।

इसलिए असहभोजिता और अवैवाहिकता कोई पाप नहीं; किन्तु किसी मनुष्य के दर्शन-मात्र को पापमय मानना (अदृश्यता) जैसे कि मद्रास प्रान्त में एकाध जगह प्रचलित है, या किसीके स्पर्श-मात्र को पातक समझना (अस्पृश्यता) यह दोनों ही अभिमानमूलक, पापमय वृत्तियाँ हैं, जो हिन्दू धर्म की नाशक हैं।

शास्त्र कैसे कह सकता है कि हमारा यह अन्याय धर्म हो सकता है? इस सम्बन्ध में हमारी अक्ल की गवाही क्या काफ़ी नहीं है? जो काम समाज की भलाई का हो, सदय हो, बुद्धि जिसका पोषण करती हो, गांधीजी जैसे आप्त पुरुष जिसका समर्थन करते हों, वह निश्चय ही धर्म है।

ऐसे धर्म के खिलाफ़ जो सच्छास्त्र, सद्बुद्धि और सत्-पुरुषों द्वारा पोषित हो, यदि संस्कृत भाषा की कोई पोथी दूसरी बात कहे, तो ऐसी पोथी को शास्त्र कहना ऋषियों की महिमा को घटाना है। जिन ऋषियों ने शंख को, मृग-चर्म और वाघाम्बर को, एवं कस्तूरी और चामर को ठाकुर जी के पास पहुँचानें में हिचकिचाहट नहीं की, वे ऋषि चार करोड़ जीवित मनुष्यों को देवदर्शन से वंचित रखने की व्यवस्था लिख जायँ, यह कदापि सम्भव नहीं। वे इस समय यदि ज़िन्दा होते तो वे भी वही बात कहते जो आज

गांधीजी कह रहे हैं। प्रस्तुत कथन केवल इतना ही है कि हम शास्त्र भी पढ़ें और साथ ही कुछ अपनी अक्ल से भी काम लें। भगवान् कृष्ण के इस वचन की भी कुछ इज्ज़त करें—

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"

मार्च, १९३३.

: ६ :

दरिद्रनारायण के मन्दिर में

[१]

आठ मई को आँखें खुलीं तो गांधीजी के उपवास के स्मरण के साथ उठकर भगवान् से प्रार्थना की और गाँधीजी की जय मनाई। गांधीजी की तो सदा जय ही है। जिनका श्वास-प्रश्वास ही ईश्वर की सेवा में बीतता हो, उनकी पराजय कैसी ? किन्तु हम संसारी लोगों के तो जय और पराजय के माप-दण्ड भी निराले हैं।

न मालूम, उस दिन कितनें आदमियों ने ईश्वर-आराधना की होगी और गांधीजी की जय-कामना की होगी। कोई जमुना-तट पर पहुँचे तो कोई मन्दिर में। मैंने सोचा, कहाँ जाऊँ ? भगवान् जमना-तट पर मिलेंगे या मन्दिर

में ? आखिर दोनों ही जगह पसन्द न आईं। "**काहेरे बन खोजन जाई?**" सोचा, भगवान् तो अपने जनों के बीच में ही मिल सकते हैं। "**राम ते अधिक राम कर दासा।**" आज हरिजनों को छोड़कर हरि और कहाँ मिल सकते हैं? सोचा, हरि को हरिजनों के ही बीच में ढूँढूँ और प्रार्थना करूँ कि 'हे हरि, गांधी बापू जिन्दा रहें और मेरा कल्याण हो !' इस विचार से दरिद्रनारायण की खोज में हरिजनों की बस्तियों में चक्कर लगाना शुरू किया। हरिजनों के पक्के सेवक या यों कहना चाहिए कि हरि के सेवक ठक्कर बापा पथ-प्रदर्शक बने।

सब से पहली हरिजन-बस्ती जो हमने देखी वह जयपुर प्रान्त के भंगियों की थी। ये लोग यहाँ की म्युनिसिपैलिटी में नौकर हैं। बस्ती क्या थी, दोज़ख की ज़िन्दा तसवीर थी। जिस अहाते में ये लोग रहते हैं, उसके बीच में क़रीब बीस सार्वजनिक पायखाने बने हुए हैं। इन लोगों के रहने की कोठरियाँ इन पायखानों से १० फ़ीट हट कर परिक्रमा देती हुई बनी हुई हैं, जिनमें ये सकुटुम्ब रहते हैं। इस अहाते में प्रवेश करते ही, बाईं तरफ़ कुछ गाड़ियाँ खड़ी दिखाई देती हैं और इनके पास ही चिमनीवाली दो बड़ी भट्टियाँ भी हैं। गाड़ियों में पब्लिक का कूड़ा-ककंट और मैला लाकर डाला जाता है, और जब वे भर जाती हैं तो

बैल जोत कर उन्हें शहर के बाहर ले जाते हैं और खाली करके वापस वहीं ला खड़ी करते हैं, जो चौबीस घंटे गन्दगी फैलाती रहती हैं। भट्टियों में जलाने लायक़ कूड़ा-कर्कट वहीं जला दिया जाता है। मानों सार्वजनिक पायखाने और कूड़ा-कर्कट की गाड़ियाँ इनका स्वास्थ्य बिगाड़ने को काफ़ी न थीं, इसलिए कूड़ा जलाकर गंदगी की पूर्णाहुति करना आवश्यक समझा गया।

इस सारी व्यवस्था का फल यह हुआ है कि मेहतरों की यह छोटी-सी बस्ती मल-मूत्र और कूड़े-कर्कट का एक स्थायी गोदाम बन गई है। कोठरियों के बीचों-बीच जो सार्वजनिक पायखाने हैं, उनमें रात-दिन बदबू आती रहती है और मक्खियाँ निकल-निकलकर भिनभिनाती हैं। जिन लोगों के बलपर सारा शहर स्वच्छ रहता हो, उन्हें इस तरह मल-मूत्र के कीटाणु बना देने से बढ़कर नृशंसता और क्या होगी ? म्यूनिसिपैलिटी के सदस्यों (City-fathers) को शरमाने के लिए यह एक छोटी-सी बस्ती काफ़ी है, हालांकि दिल्ली में ऐसी अनेक बस्तियाँ होंगी। मुझे तो इनकी नारकीय स्थिति देखकर उनसे कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। उनसे क्या कहें ? कहना तो उनसे हो सकता है, जिनके कारण उनकी यह हालत हुई है।

ये लोग दारू और गाँजा पीते हैं। प्रायः सभी ने

स्वीकार किया कि शराब और गाँजे पर काफ़ी रुपये का अपव्यय होता है। किन्तु जब तक उनके लिए साफ हवा का प्रबन्ध न हो, उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार न हो तब तक उनसे किस मुंह से कहा जाय कि तुम शराब छोड़ो, गांजा त्यागो। मेरा तो खयाल है कि अपने शारीरिक दुःखों को भुलाने के लिए ही उन्हें मादक द्रव्यों की शरण लेनी पड़ी है। हमारी राक्षसी अवहेलना के कारण उनको उठाने के लिए वर्षों लगेंगे और इसके लिए सर्वप्रथम हमें रोज़मर्रा के अपने अत्याचार को बन्द करना होगा।

पूछने पर यह भी पता लगा कि म्युनिसिपैलिटी में नौकरी हासिल करने के लिए इन्हें प्रत्येक मनुष्य पीछे चालीस-पचास रुपये पहले रिश्वत में और बाद को बराबर १) माहवार देना पड़ता है। इनपर कर्ज़ा भी काफी है। फ़ी रुपया दो आना ब्याज देना पड़ता है। मुझे आश्चर्य लगा, कि ये लोग इतनी गन्दगी में ज़िन्दा कैसे रह सकते हैं! एक से मैंने पूछा, "भाई, तुम बीमार पड़ते हो तब दवादारू का क्या प्रबन्ध करते हो?" उसने कहा, "बिना दाम दवा कहाँ और हमारे पास दाम कहाँ?" एक आदमी की पीठ में दर्द था। उसने बताया कि उसने दर्द की जगह पर काली मिर्च और जौ का लेप कर रक्खा है। मैंने पूछा, "बीमारी में बिना डाक्टर के काम कैसे चलता है?" उसने

हँस कर कहा, "माई बाप, भंगी को सत की बूटी मिली है, इसलिए हम कभी बीमार नहीं होते।"

मैंने अपने मन में कहा कि क्या हम लोग 'माई-बाप' कहलाने योग्य हैं ? मैंने पूछा, "बच्चों को पढ़ाते क्यों नहीं ? स्कल तो खुला है।" उनमें से दो-एक, जो नई रोश ीवाले मालूम होते थे, कहने लगे कि बच्चों को भेजेंगे। उन्हें अभी आदत नहीं है। किन्तु जो एक बूढ़ा था, उसने कुछ आवेश के साथ कहा—"क्यों साहब, वे पढ़कर क्या कुछ ज्यादा कमा लेंगे ? अभी कुछ लड़के जो पढ़े-लिखे हैं, उन्हें अव्वल तो नौकरी नहीं मिलती, और मिलती भी है तो कुछ अधिक वेतन नहीं मिलता। इसलिए शिक्षा का आखिर लाभ क्या ?" बूढ़े की दलील में कुछ वजूद तो था ही, किन्तु आखिर समझाने पर उसने बच्चों को नियमित रूप से स्कूल में भेजने का वादा किया।

इनसे विदा लेकर हम दूसरी बस्ती में पहुँचे। यह बस्ती भी भंगियों की है; किन्तु इसमें कुछ अच्छी स्थिति के भंगी रहते हैं। ये लोग बैलगाड़ी से ठेके पर कूड़ा-कर्कट ढोनेवाले हैं। इसलिए खाने-पीने की इन्हें कमी नहीं। इनमें एक जवान तो बड़ा बलिष्ठ मालूम होता था। पता लगा कि यह कसरत करता है, पहलवान है। एक बूढ़ा चौधरी मिला। उसका मकान काफी साफ़-सुथरा था। हाथ में

सोने की अँगूठी और कमीज़ में चाँदी के सटकेदार बटन थे। सूरत-शक्ल से ब्राह्मण-सा मालूम होता था; क्योंकि चेहरे पर सौम्य था। अगर कोई बताता नहीं तो यह पता भी न चलता कि यह भंगी है। इनमें सफ़ाई थी, भलमंसी थी, खाने-पीने को पल्ले में था, पर एक चीज़ का दारिद्र्य था। वह था सम्मान। आर्थिक दशा ठीक होने पर अपमान की यन्त्रणा असहनीय हो जाती है। पहली बस्ती वाले भंगी बुरी हालत में थे, इसलिए अपमान उन्हें नहीं खटकता। किन्तु इन लोगों की दशा साधारणतया ठीक है, इसलिए अपमान इनके लिए असह्य बन गया है।

हम पहुँचे, तो गली के एक कोने में ये बैठे गप्पें हाँक रहे थे। चूँकि वे भंगी-जैसे नहीं मालूम होते थे, इसलिए मैंने पूछा, "क्या भंगियों का यही मुहल्ला है?" यह सुनते ही उनमें जो बूढ़ा था उसकी आँखें लाल हो गईं। क्रोध के मारे वह तमतमा उठा। उसने कड़क के जवाब दिया, "तुम्हें क्या काम है?" कुछ ठहरकर बोला, "हाँ, यही है।"

मैंने पूछा, "क्या तुम भी भंगी हो?" उसने कहा, "हूँ, तो क्या?" मैंने पूछा, "तुम्हारे लड़कों की पढ़ाई का यहाँ क्या हाल है।"

अब तो वह बिलकुल ही उधड़ पड़ा। कहने लगा—"तुम लोगों ने कोई पाठशाला भी खोली ह, जिसमें लड़कों

को पढ़ाते ? सदियों तक तुम लोगों ने हम पर तबाही बरपा की। हमारे कानों में कीले ठुकवा दिये कि हम कोई अच्छी बात न सुन पायें। अब जब तुम लोगों पर आफत आई है, तब दौड़-दौड़कर हमारे मुहल्लों में आ धमकते हो और हमें गले लगानें का दिखावा करते हो; मगर तुमने किया क्या है ? आते हो और चले जाते हो। उस दिन कुछ औरतें भी यहाँ झाड़ू लेकर फेर गईं। हमने उनसे कहा, हमें स्कूल खुलवा दो। मगर उसके बाद न स्कूल ही खुला और न किसी ने तब से सूरत ही दिखाई। आर्य-समाज की पाठशाला पास में है। पर उसमें लड़के भेजें तो कैसे भेजें ? कोई हमदर्दी तो है नहीं। पचास तरह की शर्तें लगाते हैं। कहते हैं, लड़कों को साफ करके भेजो; यह करो, वह करो। हम बच्चों को सफाई कैसे सिखायें ? सदियों से गन्दगी की आदत पड़ी हुई है, और अब हमसे कहते हो, लड़कों को ज़रा साफ करके भेजो। अब हमने पादरियों को लिखा है कि वे यहाँ पर आकर स्कूल खोलें। अब जब वे स्कूल खोलेंगे तब हमारे बच्चे पढ़ेंगे। पढ़ना तो सब चाहते हैं; मगर तुम हमें पढ़ने दो तब न।"

बूढ़े का नाम रग्घू था। वह न तो शिक्षित था और न नये ज़माने की बहकवाला। तो भी धारा-प्रवाह उर्दू में उसने ऐसी फटकार बताई कि मैं अवाक् रह गया। किन्तु

जो कुछ उसने कहा वह सत्य तो था ही, इसलिए जवाब भी तो मेरे पास कहाँ था ? मैंने पूछा, "तुमने पादरियों को क्यों लिखा ?" मेरे प्रश्न ने तो मानों बूढ़े के दिल की धधकती हुई आग में ईंधन का काम दिया। उसने कहा--"क्यों न लिखें ? उनसे बढ़कर हमारा हितू आज और कौन है ? उन्हीं के ज़रिये तो हम लोगों में थोड़ी-सी आदमियत आ रही है। उन लोगों की सेवा का कुछ ठिकाना है !"

किसीने धीरे से मेरे कान में कहा कि ये लोग ईसाई भंगी हैं। मैंने पूछा, "क्या तुम ईसाई हो ?" अब तो रग्घू की साँस क्रोध के मारे तेज़ी से चलने लगी। उसने कहा--"हमारे धर्म से मतलब ? सारे अछूत ईसाई बन जायेंगे, बनते जा रहे हैं। वे क्यों न ईसाई बनें, ऊँची जातिवाले तो अछूतों को पास भी नहीं फटकने देते हैं।" मैंने कहा, "मैं तो सिर्फ जाननें के लिए ही पूछता हूँ कि क्या तुम ईसाई हो ?"

तीन-चार मेहतर जो वहाँ पर खड़े थे, एक स्वर से बोल उठे कि, "अजी ईसाई तो नहीं हैं--हैं तो हिन्दू ही; मगर पादरियों के सिवा हमदर्दी और कहाँ है, जिससे उन्हें लिखे बिना ही हमारा काम चल जाये ?"

इसी बीच में रास्ते चलते कुछ उच्चवर्ण के हिन्दू भी वहाँ पर ठहर गये थे। वे सब बातें सुन रहे थे। उनमें से

एक नें, बीच में पड़कर, ख्वाहमख्वाह, हम लोगों का परिचय दे ही डाला। अब तो रग्घू बिलकुल कातर हो गया। उसका क्रोध भी पलभर में चला गया। कहने लगा, "माई-बाप, मैं कान पकड़ता हूँ। गुस्ताखी हुई। इसके लिए माफ़ी चाहता हूँ।" यह कहते हुए सचमुच उसकी आँखों में आंसू भर आये।

मैंने कहा, "गुस्ताखी तुमने नहीं की, हम लोगों ने की है, जो आज तुम्हारी यह दशा है।" अब तो हमारी बातों का रंग बदल गया। कड़वाहट के स्थान पर मिठास आ गई।

अब हमने उनके कर्ज़ के सम्बन्ध में पूछताछ शुरू की। रग्घू के साथ प्रभुदयाल भी बोलने लगा। उसने कहा—"कर्ज़ का ब्याज देते-देते ये लोग थक जाते हैं। एक ने १०००) लिये थे, अब तक ६५००) ब्याज-पेटे अदा कर चुका है, (पास में साहूकार की एक बड़ी हवेली थी, उधर इशारा करके) फिर भी मूल कर्ज़ा चढ़ा हुआ है। रग्घू ने २५०) लिये थे, मगर ६५०) का दस्तावेज़ लिखाया गया। अब ब्याज चुकाते-चुकाते थक गया।"

हमसे सब कहने लगे, "अब बनिये से हमारा फ़ैसला करा दीजिए।" मैंने कहा, "क्या ऐसे भी लोग हैं, जिनके पास देने को नहीं है?" उसने कहा, "अवश्य हैं।" तो

मैंनें कहा, "ऐसे लोग तो हर्गिज़ देने के लिए बाध्य नहीं हो सकते। देने को जिनके पास नहीं, उन्हें चाहिए कि वे कोर्ट में नादारी की दरख़ास्त देकर कर्ज़े से पिंड छुड़ा लें।" आधे मिनट के लिए तो सन्नाटा-सा छा गया। सहज ही ऋण से कैसे मुक्त हो सकते हैं, इसका उन्हें कुछ प्रिय आभास हुआ किन्तु यह सुख-कल्पना आधे मिनट से ज्यादा नहीं ठहरी। प्रभुदयाल ने हाथ जोड़ कर कहा, "माई-बाप, यह तो नहीं हो सकता। बनिये की ज्यादती हो या न हो, हमारे पास पैसे हों या न हों, इस तरह से हम ऋण-मुक्त कभी न होंगे। या तो हमारा फैसला करा दो, या बनिया जो माँगेगा वही जब हमारे पास होगा तब हम दे देंगे।"

मैं यह सुनकर हैरान हो गया। मैंने कहा, "किन्तु जिनके पास नहीं है, वे कैसे दे सकते हैं?" प्रभुदयाल ने कहा, "जबतक कमायेंगे तबतक देंगे। हम नहीं, तो हमारे बाल-बच्चे देंगे।" इनकी इसी भलमंसी पर मैं तो अवाक् रह गया। मैंनें कहा—"भाई, अच्छा फ़ैसले की ही कोशिश हम लोग करेंगे।"

आश्चर्य है कि इतना अत्याचार होने पर भी इन लोगों की धार्मिक भावना जाग्रत है। जिस नज़र से ये अपने कर्ज़ को देखते हैं और जिस नैतिक दायित्व को ये

महसूस करते हैं थोड़े ही उच्चवर्ण वाले मनुष्य इस तरह का दायित्व समझते होंगे। इस मामले में ज्यादा बहस करना अनावश्यक समझकर हम आगे बढ़े।

जब बस्ती से बाहर निकले तो सहसा कवि की यह उक्ति स्मरण हो आई :—

"शक्ल इन्सान में छिपा था तू मुझे मालूम न था।
चाँद बादल में छिपा था मुझे मालूम न था।"

[२]

इसके बाद और अनेक बस्तियों में चक्कर काटे। रैगरों की बस्ती देखी, भंगियों की अनेक बस्तियाँ देखीं और चमारों की बस्तियाँ भी देखीं। कैसी भी हृदय-विदारक भाषा में इसका वर्णन क्यों न किया जाय, असली तस्वीर को पाठकों के हृदयंगम करा देना लेखनी की शक्ति के बाहर की बात है।

"घायल की गति घायल जाने, जै कोई घायल होय।"

हम लोग दर्शक बनकर जानेवाले आखिर घड़ी-आध-घड़ी ऊपरी दृष्टि से उनका कष्ट भले ही देख लें, असल में तो उनका दुःख वही महसूस कर सकता है जो रातदिन वहीं रहता हो। संक्षेप में, इतना ही कहा जा सकता है कि उनको न तो शुद्ध हवा मिलती है, न बहुतायत से पानी मिलता है, न प्रकाश मिलता है और न पेटभर खाने को

अन्न या ओढ़ने को वस्त्र ही मिलते हैं। भंगियों को म्युनिसिपैलिटी से जो वरदी पहनने को मिलती है उसे तो उनका चौबीसों घंटों का साथी समझिए। उसी वरदी को पहनकर वे मैला भी ढोते हैं और उसी को पहनकर खाना भी खाते हैं।

जो परिवर्तन इन वर्षों में हरिजनों में धीरे-धीरे होता दिखाई दे रहा है, वह यह है कि इनके आत्म-सम्मान की मात्रा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। गाँवों में तो यह नहीं के बराबर है। शहरों में और खासकर उन हरिजनों में यह अधिक है, जिन्हें कुछ थोड़ी-सी शिक्षा मिल गई है और जिनकी आर्थिक अवस्था कुछ थोड़ी-सी सुधर गई है। जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त गिरी हुई है उन्हें तो मान-अपमान का खयाल करने की भी फुर्सत कहाँ? किन्तु जिनकी आर्थिक दशा कुछ सुधरी है उनका असंतोष बेतरह बढ़ रहा है। यह स्वाभाविक भी है। ईसाई, मुसलमान उन्हें उनकी गिरीहुई दशा का स्मरण दिलाते रहते हैं। हिन्दू-समाज द्वारा उन पर किया गया ज़ुल्म हिन्दू-धर्म में उनकी श्रद्धा की जड़ें खोखली कर रहा है। धर्म-परिवर्तन करने पर उनका दर्जा कितना बढ़ सकता है—जिस हिन्दू हरिजन को न कुएँ से पानी लेने दिया जाता है, जिसे छूने में पाप माना जाता है, उसी हरिजन को

धर्म-परिवर्तन करने पर स्वयं उच्चवर्ण के हिन्दू ही कितनी इज्ज़त देने लग जाते हैं—हिन्दुओं के इस बेढंगेपन से हरिजन नावाकिफ़ नहीं हैं। इस बेढंगेपन की ईसाई, मुसलमान, सुधारक हिन्दू सभी ढोल पीट-पीटकर अपने-अपने ढंग से चर्चा करते हैं। इसे हरिजन भी सुनता रहता है और यह उसके दिल में हलचल मचाने में सहायक बनता जा रहा है। नतीजा यह हो रहा है कि कितने ईसाई बनते जा रहे हैं तो कितनों के हृदय में असंतोष बुरी तरह लहरें मार रहा है। इतना होने पर भी आश्चर्य तो यही है, कि अबतक ये हिन्दू बनें हुए हैं। किन्तु हिन्दू-धर्म के नामपर जब इन्हें कोई उपदेश देने जाता है तो सहज ही यह ख़याल होता है कि क्या इसीका नाम हिन्दूधर्म है कि जिसके माननेंवाले मनुष्यों को कुत्ते-बिल्ली तो क्या मक्खी से भी बदतर समझें।

एक मुहल्ले में चमार और भंगी पास-पास में रहते हैं। चमारों का एक कुआँ है। उसमें से भंगियों को ये लोग पानी नहीं निकालने देते। मैंने चमारों के चौधरी से कहा कि ऐसा न होना चाहिए, तो उसने टका-सा जवाब दे ही डाला कि "क्यों साहब, आप भी तो हमें कुओं पर नहीं चढ़ने देते।" उसने बताया कि किस प्रकार पास की बस्ती में एक ब्राह्मण जब नहा रहा था तो इस चमार की

लड़की को पास में खड़ी रहने देने में भी उसे आपत्ति थी। इस चमार ने कहा, "मैंने बात बढ़ने के डर से अपनी बेटी से कह दिया, "बेटी हट जाओ।" किन्तु यह अपमान उसे अब भी सता रहा था।

इस धधकतीहुई आग का क्या परिणाम होगा यह कौन बता सकता है ? इतना अवश्य है कि गांधीजी ने इसपर ठंडा पानी छोड़ा है। एक से मैंने पूछा "जानते हो, तुम्हारे लिए गांधीजी मर रहे हैं ?" उसने कहा, "उन्हें कौन नहीं जानता ? वे ही एकमात्र हमारे आधार हैं।" किन्तु उच्चवर्ण वाले हिन्दू जबतक इस भूल को नहीं समझेंगे, मुझे भय है कि कड़वाहट बढ़ती ही जायगी। अछूतोद्धार के आन्दोलन से जो जाग्रति आ रही है उसके कारण भी हरिजन अपनी अपमानित अवस्था को अधिक स्पष्टता से देखने-जानने लगे हैं और यदि हिन्दू-समाज नें अपना रुख नहीं बदला तो लाखों की तादाद में हरिजनों को हम खो बैठेंगे, इसमें मुझे कोई शक नहीं।

कार्य की गुरुता और जटिलता को विचारने पर नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प लोगों के चित्तों में सहज ही उत्पन्न होते हैं। "यह तो महाभारत-जैसा काम है। रामानुज, नानक, कबीर, दयानन्द जिस बात को नहीं बना सके क्या गांधीजी उसे पूरा करने में समर्थ होंगे ? कितने

करोड़ हरिजन और फिर उच्च वर्णवालों की सदियों की इनके प्रति घृणा, गाँवों में शिक्षा का अभाव और अंध-विश्वास ! ऐसी हालत में क्या हमें सफलता मिल सकती है ? और फिर हरिजनों में भी तो गंदगी, शराबखोरी, जुआरीपन आदि दुर्गुणों ने घर बना लिया है । इनका सुधार कैसे होगा, कब होगा ? इसमें तो कम-से-कम सैकड़ों वर्ष लग जायेंगे । एक-एक बस्ती में दसों वर्ष सुधार में लग सकते हैं।" ऐसे-ऐसे विचार सहज ही मनुष्य को पस्तहिम्मत बना देते हैं । ऐसे संकल्प-विकल्प भी कहीं-कहीं पाये जाते हैं (और ये उन लोगों में जो अछूतपन को हिन्दूधर्म में एक पल के लिये भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं हैं !) कि "अछूतों को यदि हम शिक्षित बना देंगे तो उनके प्रति उच्चवर्ण द्वारा किया गया अपमान उन्हें और अधिक खटकने लगेगा और कहीं वे अधिक संख्या में विधर्मी तो न बनने लग जायँगे ? कहीं हमारा आज का यह पवित्र उद्योग उलटा हमारे ही लिए तो घातक न बन जायगा ? इसलिए क्यों न रोटी से पहले हम उनके सामने 'राम' रखें ?"

इसका उत्तर तो मुझे एक बस्ती में मिला, जहाँ एक भंगियों के गुरु उन्हें हंस निर्वाण (सिंध देश के एक जीवित सन्त) के कुछ पद सुना रहे थे । भंगी बाबाजी के पद

सुनते जाते थे; किन्तु बार-बार उन्हें बतलाते जाते थे कि—"बाबाजी, हमारे यहाँ पानी का बड़ा कष्ट है।"सुदामाजी ने जब अपनी स्त्री को ब्रह्मज्ञान से संतुष्ट करना चाहा तब उसने कह ही डाला **"मने ज्ञान नाथी गमतूँ ऋषिरायजी रे, बाळक माँगे अन्न लागूँ पायजी रे।"** यह सच है कि **"भूखे भजन न होहि गोपाला।"**

"इस आन्दोलन में कितनी सफलता मिलेगी या इसी आन्दोलन के कारण इनके आत्म-सम्मान की मात्रा जाग्रत होजानें पर यह कहीं अधिक संख्या में ईसाई तो न बननें लगेंगे?" यह सारी-की-सारी विचार-धारा ही मुझे तो दूषित मालूम होती है।

सेवा करनेवाले का तो केवल सेवा ही अधिकार है, फलाकांक्षा का नहीं। **"कर्मण्येवाधिकारस्ते।"** "हमारी सेवा से कहीं उलटा फल न लग जाय, ऐसा विचार करना ही ईश्वर में विश्वास की कमी प्रकट करना है।" **"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"** **"न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।"** **"कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।"** इन वाक्यों का यदि कोई अर्थ है तो हमें निश्चिन्त रहना चाहिए और भरोसा रखना चाहि कि सेवा का फल, यदि वह बिना किसी लोभ के की गई है, तो अच्छा ही होगा।

और यदि मान लिया जाय कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा है कि यह सब लोग ईसाई या मुसल्मान बन जायें तो क्यों न बनें ? "Oh Lord ! Thy will be done" **"यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन्"** कह के हमें संतोष ही मान लेना होगा। यह तो निश्चित बात है कि बिना उसकी मर्ज़ी के तो इस संसार में एक पत्ता भी नहीं हिलता। इतना सोच लेने पर पस्तहिम्मती या निराशा के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

बात यह है कि मनुष्य अल्प है, उसकी शक्ति अल्प है, अतः उसका कार्यक्रम भी अल्प होता है। पस्तहिम्मती की तह में अभिमान होता है। हम पहले ही अपनी शक्ति बड़ी मान लेते हैं, फिर कार्य की गुरुता सामने आने पर उत्साह टूटने लगता है। जहाँ अपनी शक्ति को अल्प मान कर ही काम आरम्भ किया जाय, वहाँ उत्साह टूटने के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती क्योंकि वहाँ शुरू ही से ईश्वर को रखवाला मान लिया जाता है। अहर्निश अपनी शक्ति की निर्बलता का भान करनेवाले गांधीजी ने भी अछूतों के उद्धार के लिए २१ दिन के उपवास द्वारा ईश्वर का ही दर्वाज़ा खटखटाया है। आख़िर इतने बड़े ज़हरीले रोग के लिए ईश्वर-आराधना के बिना उद्योग अकेला क्या कर सकता था ? शुद्ध उद्योग वही है जिसमें उद्योग की कमी

न हो, अपनी निर्बलता का ज्ञान हो, फल क्या होगा इससे बेफ़िक्री हो। बाक़ी के उद्योग तो "हूँ करूँ, हूँ करूँ एज अज्ञानता।"

पस्तहिम्मती-उलूहिम्मती; उत्साह-अनुत्साह; आशा निराशा के झोंकों में न पड़कर इनकी सेवा में लग जाना यही सच्चा उद्योग है। आगे का मालिक तो भगवान् है।

..........I do not ask to see
The distant scene; one step's enough for me.

'दूर देश की मोहिं न तृष्णा;
इक डग सों सन्तोष।'

सेवक के लिए तो मानों यह गायत्री है।

१९ मई १९३३

: ७ :

आचार बनाम प्रचार

गांधीजी ने 'हरिजन-सेवक-संघ' के विषय में लिखते हुए एक बार परामर्श दिया था कि संघ का ख़र्च इस प्रकार हो कि कुल व्यय में से नव्वे फ़ी सदी तो सीधा हरिजनों की जेबों में ही पहुँच जाय। पिछली बार जब संघ की बैठक पूना में हुई, तो उस सवाल पर काफ़ी बहस हुई। प्रश्न यह था कि कुल बजट में से प्रबन्ध और प्रचार-कार्य पर कितने फ़ी सदी व्यय किया जाय ? प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यय का तो अर्थ है केवल दफ्तर का ख़र्च, जैसे मकान का किराया, मंत्री आदि का वेतन, काग़ज़, क़लम, दावात, डाकव्यय, मार्गव्यय इत्यादि। इस प्रश्न पर निर्णय करने में तो कोई कठिनाई नहीं हुई। सर्वसम्मति से यह तय होगया

कि प्रबन्ध पर बीस फ़ी सदी से अधिक व्यय न किया जाय। असल कठिनाई तो प्रचार के सम्बन्ध में उठी। प्रचार-कार्य में व्यय को मर्यादित करना एक तरह से हरिजन-संघ के मूल उद्देश्य पर कुठाराघात करना है, ऐसी कई लोगों की सम्मति थी। उनकी दलील यह थी कि "आख़िर अछूतपन एक मानसिक रोग है, जिससे सवर्ण हिन्दू पीड़ित हैं। उसकी एकमात्र दवा है सवर्ण हिन्दुओं में प्रचार करना और वह भी सवर्ण हिन्दुओं द्वारा। हरिजनों में भी सफ़ाई, शराब-बन्दी, मुर्दार-मांस-बहिष्कार की आवश्यकता है। किन्तु उसकी पूर्ति के लिए भी ज़रूरत है प्रचार की। यदि सौ-दो-सौ छात्रवृत्तियाँ दे दीं; सौ-पचास कुएँ बनवा दिये; दस-बीस नये मन्दिर तैयार करवा दिये तो इससे थोड़े ही अछूतपन दूर हो गया। सार्वजनिक मन्दिरों में भी हरिजनों को बेरोक-टोक दाखिल करवाने में प्रचार की ही आवश्यकता है।" यह संक्षेप में ऐसे लोगों की दलील थी, जो प्रचार-व्यय को संकुचित या मर्यादित नहीं करना चाहते थे।

चूंकि प्रचार-कार्य के व्यय को मर्यादित करने में ज़बरदस्त आग्रह गांधीजी का था, इसलिए इन सारी दलीलों को उन्हींके सामने रख देना उचित जान पड़ा। जो कुछ उन्होंने कहा, बिना किसी बहस के सदस्यों ने उसे मान

लिया। उन दिनों उपवास के कारण महात्माजी की शक्ति क्षीण थी, इसलिए भी लोगों ने ज्यादा बहस न की। किन्तु एक बात स्पष्ट मालूम होती थी कि लोगों ने अपने दिलों में आधुनिक प्रचार-कार्य के परिणाम का अन्दाज़ कुछ अतिशयोक्ति के साथ कर रक्खा था। प्रचार के सम्बन्ध में लोगों का जितना आग्रह था उससे कहीं अधिक आग्रह गांधीजी का था। गांधीजी स्वयं भी एक ज़बरदस्त प्रचारक हैं। गांधीजी का जो विरोध था वह था केवल वैतनिक प्रचार के सम्बन्ध में। वैतनिक प्रचारक और स्वयं अपने आचरण द्वारा संसार को शिक्षा देनेवाले प्रचारक में कितना अन्तर है, इस बात की लोग प्रायः अवहेलना करते थे। यद्यपि यह तय हो गया कि प्रचार पर कम-से-कम खर्च किया जाय किन्तु इस निर्णय से शायद बहुत कम लोगों को संतोष हुआ। इसलिए इस सम्बन्ध में विशेष विचार आवश्यक जान पड़ता है।

प्रश्न यह है कि अछूतपन को मिटाने के लिए आधुनिक प्रचार अधिक कारगर हो सकता है या रचनात्मक कार्य द्वारा हरिजनों की सेवा? ऐसे भी सज्जन हैं, जिन्हें यह भय है कि पढ़ने-लिखने से और बढ़तेहुए असंतोष के कारण हरिजन विधर्मी बन जायँगे। वे भी क़रीब-क़रीब प्रचार-पक्षियों की-सी ही दलीलें देते हैं और सेवा-कार्य के

बजाय धार्मिक प्रचार पर ज्यादा ज़ोर देते हैं। गांधीजी भी हरिजन-कार्यक्रम को धार्मिक कार्य ही मानते हैं; किन्तु मतभेद यह रह जाता है कि यह धर्मयज्ञ प्रचार से सफल हो सकता है या सेवा-कार्य से ? अतः पहले प्रचार और प्रचारक के सम्बन्ध में ही हम विचार कर लें।

यह बात साधारण मनुष्य भी जानता है कि जब हमें किसी अध्यापक की आवश्यकता होती है तो हम ऐसे व्यक्ति की तलाश करते हैं जो अपने विषय का पूर्ण पण्डित हो। यह किसी को बताने की ज़रूरत नहीं कि इतिहास के पंडित की क़ानून पढ़ाने की चेष्टा उसका दुःस्साहस मात्र होगा। अध्यापक ही क्यों, मोटर चलाने जैसी साधारण क्रिया के लिए भी तो हम सिद्धहस्त व्यक्ति को ही पसंद करना चाहेंगे। तो भी धार्मिक शिक्षा के बारे में हम यह मान बैठते हैं कि कोई भी मनुष्य, चाहे उसका आचरण कितना ही शंकास्पद क्यों न हो, संस्कृत के श्लोकों का साधारण अनुवाद कर सकता हो तो धार्मिक शिक्षा के लिए उपयुक्त हो सकता है ! किसी कुशाग्रबुद्धि मनुष्य का केवल इतना ही ज्ञान, कि मोटर चलाने के लिए अमुक रीति से क्लच (Clutch) दबाई जाती है और हाथ का चक्का फिराया जाता है, उसे मोटरड्राइवर बनने का अधिकारी नहीं बना देता। यदि उसने अच्छी तरह से

मोटर चलाने का अभ्यास नहीं किया है, तो केवल उसके काल्पनिक ज्ञान के आधार पर न तो उसे मोटर चलाने का लाइसेंस ही मिल सकता है, न ऐसे व्यक्ति द्वारा चलाई मोटर में बैठकर कोई अपनी जान ही जोखिम में डालना चाहेगा। किन्तु मोटर-ड्राइवरी-जैसी साधारण वस्तु के लिए जितनी छान-बीन करते हैं, ठीक उसके विपरीत धार्मिक शिक्षा-जैसी महान् वस्तु के लिए हम यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि धार्मिक शिक्षक बनने के लिए गीता के श्लोकों का अनुवाद के रूप में जमा-खर्च ही पर्याप्त नहीं है। काल्पनिक ज्ञान के अलावा शिक्षक में आचरण की भी, या यों कहिए केवल आचरण की ही, आवश्यकता है।

काल्पनिक ज्ञान न भी हो, तो गाड़ी चल सकती है। किन्तु धर्माचरण के बिना धार्मिक शिक्षा के लेन-देन का कोई अच्छा नतीजा हो ही नहीं सकता। इस समय धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों के कुछ अद्भुत विचार बन गये हैं और यही कारण है कि धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रचार के नाम पर धन का इतना निष्फल व्यय हो रहा है।

प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाने के लिए देवताओं के राजा इन्द्र सत्याचरणी प्रजापति के पास गये, तो उन्होंने इन्द्र को ३२ वर्षतक ब्रह्मचारी रखा और फिर

बजाय धार्मिक प्रचार पर ज्यादा ज़ोर देते हैं। गांधीजी भी हरिजन-कार्यक्रम को धार्मिक कार्य ही मानते हैं; किन्तु मतभेद यह रह जाता है कि यह धर्मयज्ञ प्रचार से सफल हो सकता है या सेवा-कार्य से ? अतः पहले प्रचार और प्रचारक के सम्बन्ध में ही हम विचार कर लें।

यह बात साधारण मनुष्य भी जानता है कि जब हमें किसी अध्यापक की आवश्यकता होती है तो हम ऐसे व्यक्ति की तलाश करते हैं जो अपने विषय का पूर्ण पण्डित हो। यह किसी को बताने की ज़रूरत नहीं कि इतिहास के पंडित की क़ानून पढ़ाने की चेष्टा उसका दुःस्साहस मात्र होगा। अध्यापक ही क्यों, मोटर चलाने जैसी साधारण क्रिया के लिए भी तो हम सिद्धहस्त व्यक्ति को ही पसंद करना चाहेंगे। तो भी धार्मिक शिक्षा के बारे में हम यह मान बैठते हैं कि कोई भी मनुष्य, चाहे उसका आचरण कितना ही शंकास्पद क्यों न हो, संस्कृत के श्लोकों का साधारण अनुवाद कर सकता हो तो धार्मिक शिक्षा के लिए उपयुक्त हो सकता है ! किसी कुशाग्रबुद्धि मनुष्य का केवल इतना ही ज्ञान, कि मोटर चलाने के लिए अमुक रीति से क्लच (Clutch) दबाई जाती है और हाथ का चक्का फिराया जाता है, उसे मोटरड्राइवर बनने का अधिकारी नहीं बना देता। यदि उसने अच्छी तरह से

मोटर चलाने का अभ्यास नहीं किया है, तो केवल उसके काल्पनिक ज्ञान के आधार पर न तो उसे मोटर चलाने का लाइसेंस ही मिल सकता है, न ऐसे व्यक्ति द्वारा चलाई मोटर में बैठकर कोई अपनी जान ही जोखिम में डालना चाहेगा। किन्तु मोटर-ड्राइवरी-जैसी साधारण वस्तु के लिए जितनी छान-बीन करते हैं, ठीक उसके विपरीत धार्मिक शिक्षा-जैसी महान् वस्तु के लिए हम यह सोचने की आवश्यकता नहीं समझते कि धार्मिक शिक्षक बनने के लिए गीता के श्लोकों का अनुवाद के रूप में जमा-खर्च ही पर्याप्त नहीं है। काल्पनिक ज्ञान के अलावा शिक्षक में आचरण की भी, या यों कहिए केवल आचरण की ही, आवश्यकता है।

काल्पनिक ज्ञान न भी हो, तो गाड़ी चल सकती है। किन्तु धर्माचरण के बिना धार्मिक शिक्षा के लेन-देन का कोई अच्छा नतीजा हो ही नहीं सकता। इस समय धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों के कुछ अद्‌भुत विचार बन गये हैं और यही कारण है कि धार्मिक शिक्षा, धार्मिक प्रचार के नाम पर धन का इतना निष्फल व्यय हो रहा है।

प्राचीन काल में ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाने के लिए देवताओं के राजा इन्द्र सत्याचरणी प्रजापति के पास गये, तो उन्होंने इन्द्र को ३२ वर्षतक ब्रह्मचारी रखा और फिर

उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। वास्तव में उपदेश तो क्या दिया, ब्रह्मचर्य पालन कराके और अपना आदर्श सामने रखकर ब्रह्मा ने इन्द्र से धर्माचरण ही कराया। शाब्दिक ज्ञान भी दिया किन्तु असल ज्ञान का तो आचरण द्वारा ही सम्पादन कराया गया। यह कोई असाधारण घटना नहीं थी क्योंकि आख़िर तो धर्म सीखने के लिए धार्मिक पुरुषों की संगति और स्वयं धर्माचरण करना ही सार-वस्तु है। उस समय का एक मामूली तरीक़ा था कि राजा-महाराजा लोग धर्मजिज्ञासा के लिए **धर्माचरणी** ऋषि-मुनियों के पास (वैतनिक प्रचारकों के पास नहीं) जाया करते थे तथा स्वयं धर्माचरण द्वारा धर्म-लाभ किया करते थे। वास्तव में, धर्म का प्रचार एक मशीन की क्रिया की भाँति वैतनिक प्रचारकों द्वारा (जिनका आचरण उनके कथनानुसार हो या न हो) उतना ही असम्भव है, जितना कि एक काल्पनिक ज्ञान रखनेवाले के द्वारा मोटर का चलवाना।

प्राचीन काल में जब-जब धर्म की हानि हुई तब-तब लोगों ने अधर्म को हटाकर धर्म की स्थापना के लिए तप का आसरा लिया—प्रचार का नहीं। कहते हैं कि त्रेता में जब धर्म का अत्यंत ह्रास हो गया, तब ऋषियों को धर्मोद्धार की चिंता हुई। उस समय संसार इतना आचरण-

हीन होगया था कि तुलसीदासजी के शब्दों में—

"अस भ्रष्ट-अचारा भा संसारा, धर्म सुनिय नहिं काना,"

बेचारी पृथिवी (जनता) भी अकुला उठी। काफ़ी सोच-विचार के बाद ऋषि-मुनियों के पास पहुँची तथा अपना दुखड़ा रो सुनाया। ऋषि-मुनि भी हैरान थे। यदि आजकल का ज़माना होता, तो 'प्रोपेगैण्डा' (प्रचार) की सूझती, किन्तु वे थे अनुभवी लोग, इसलिए ऐसी भूल सम्भव न थी। आख़िर सब पहुँचे प्रजापति के पास और वहाँ परामर्श होने लगा। किसीने कहा, नारायण से प्रार्थना की जाय। परन्तु इनमें ऐसे भी लोग थे, जो यह नहीं जानते थे कि नारायण कहाँ मिलेंगे ? किसीने कहा कि बैकुण्ठ तक दौड़ लगानी चाहिए, तो किसीने कहा कि वह तो क्षीरसागर में मिलेंगे। बूढ़े महादेव बाबा भी वहीं उपस्थित थे। उन्हें लोगों का यह अज्ञान अखरा, तो बोले :—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना; प्रेम ते प्रगट होंहि मैं जाना।
देशकाल दिशिविदिशहु माँहीं; कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं"

आख़िर सब समझदार तो थे ही, बात समझ में आ गई और लगे तप करने। अन्त में उनका तप सफल हुआ और आकाशवाणी हुई—

हरिहौं सकल भूमि-गरुआई; निर्भय होहु देव-समुदाई।"

हमारे इतिहास-पुराणों में अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना के लिए ऋषि-मुनियों ने बार-बार सत्य, तप तथा अहिंसा का आसरा लिया है, यह सुप्रसिद्ध बात है। सती को शिवजी की चाह हुई तो तप किया। प्राचीन काल में धर्म-प्रचार के लिए आधुनिक प्रचार-जैसी कोई वस्तु विद्यमान रही हो, ऐसा नहीं जान पड़ता।

बहुत-सी बातें हमें पश्चिम से मिली हैं। वैतनिक प्रचार भी उनमें से एक है। अखबारों, पुस्तकों, पर्चों, कारखानों तथा बिजली-द्वारा मुद्रण तथा भाषण-प्रसार इत्यादि प्रचार की आधुनिक शैलियाँ हैं। इन साधनों द्वारा खूब प्रचार होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु इन साधनों द्वारा सत्य का प्रचार भी हो सकता है या नहीं, यह प्रश्न तो सन्देहास्पद है। गोलमेज़ कान्फ्रेंस को जाते समय गांधीजी के साथ पत्र-संवाददाता भी थे। एक ने लिख मारा कि गांधीजी के साथ एक प्यारी पालतू बिल्ली है, जिसे गांधीजी अपने साथ खिलाते हैं तथा सुलाते हैं। दूसरे ने यह लिख मारा कि गांधीजी ने प्रिन्स ऑव वेल्स के पैरों पर अपना सिर रखकर अभिवादन किया था। कुछ ने गांधीजी के बारे में और भी उलटी-सीधी लिख मारीं। इनमें दो तो गांधीजी के मित्रों में से थे। इसलिए गांधीजी ने उन्हें डाँट बतलाई, किन्तु उन्होंने

हँसकर कह दिया कि कुछ नमक-मिर्च लगाये बिना खबर फबती नहीं। सारांश यह है कि महात्माजी के लाख प्रयत्न करने पर भी झूठ का प्रचार होता ही रहा।

लन्दन में गांधीजी ने अख़बारवालों की एक सभा बुलाई और असत्य समाचार छापने की शिकायत की। 'डेली हेरल्ड'वालों ने, जो मज़दूर-पक्ष का मुख्य पत्र है, और जो कुछ अंशों में सच्चे पत्रों में से गिना जाता है, बहाना बनाने के लिए यह कहा कि इसमें हमारा क्या दोष है? हमें तो जैसी ख़बरें मिलती हैं, छाप देते हैं। गांधीजी ने उत्तर में कहा--"मैं अपने खर्च से तुम्हें सच्ची खबरें पहुँचाऊँगा, क्या तुम उन्हें छाप दोगे?" तब तो सन्नाटा छा गया। गांधीजी की यह चुनौती उन्होंने स्वीकार न की।

आज भी तरह-तरह की झूठी बातों का प्रचार नये-नये साधनों द्वारा सहज ही हो रहा है। गत महायुद्ध में तो इन्हीं साधनों द्वारा काफ़ी झूठ का प्रचार किया गया था। इसमें साधनों का दोष नहीं है। बात यह है कि इन साधनों के सञ्चालक व्यापारिक दृष्टि से इनका उपयोग करते हैं। चूंकि उनका ध्येय पैसा कमाना मात्र ही होता है, न कि सत्य-प्रचार; इसलिए मनोरञ्जन के लिए या ठकुरसुहाती के लिए उन्हें असत्य का भी आश्रय

लेना ही पड़ता है। वैतनिक प्रचारकों के द्वारा लोगों को हम यह भले ही दिखा दें कि अमुक चाय ही सबसे अच्छी चाय है तथा अमुक बनावट की सिगरेट ही सबसे बढ़िया सिगरेट है किन्तु धर्म का प्रचार इस तरह की विज्ञापनबाज़ी से सम्भव नहीं।

तप से विज्ञापन नहीं फैलता, ऐसी बात नहीं है। सिगरेट तथा चाय की विज्ञापनबाज़ी तो थोड़े ही दिन जी सकती है, मगर महापुरुषों के जीवन का कीर्त्तिगान आज भी हमारे पुराण हज़ारों वर्षों बाद उसी तरह गा रहे हैं। लाख प्रस्तावों और व्याख्यानों ने जो काम नहीं किया वह गांधीजी के एक उपवास ने कर दिखाया। जिस प्रचार के पीछे केवल धन की शक्ति रहती है, वह जीवित नहीं रह सकता। तप का यश अमर होता है। धन के बल पर कोई धर्म फैला हो, इसका इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, धन के बल पर (Conversion) तबलीग़ और शुद्धियाँ अवश्य हुई हैं किन्तु इनके कारण धर्म (दैवी सम्पदा) नहीं फैला। श्रीकृष्ण भगवान् ने जब गीता कही, तब अर्जुन से कहा कि :—

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥"

इनका 'गोपनीयं' 'गोपनीयं' कह देने पर भी गीता

का यश विश्वव्यापी इसलिए हो गया कि इसके पीछे इसके वक्ता का सात्विक तेज एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्य था। प्रचार से यहाँ विरोध नहीं है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक प्रचार बिना तप के हो ही नहीं सकता। जैसे बिना बारूद के बन्दूक की गोली बेकार है, वैसे ही बिना तप के प्रचार धन का निष्फल ही व्यय है। कठोपनिषत्कार ने लिखा है :—

"न नरेणावरेण प्रोक्त एष : सुविज्ञेय :"

अर्थात्—अनाप्त पुरुष द्वारा कहाहुआ ज्ञान हृदयंगम नहीं हो सकता।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध है कि अछूतोद्धार को यदि हम धर्म-प्रचार का एक अंग मानते हैं तो वह प्रचार से नहीं, तप ही से सफल हो सकता है। और तप के माने हैं सेवा। जो समझते हैं कि सौ, दो सौ छात्र-वृत्तियाँ क्या काम कर सकती हैं, वे भूल जाते हैं कि :—

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"

निःस्वार्थ भाव से की गई छोटी-सी सेवा भी हज़ारों व्याख्यानों और अन्यान्य आधुनिक धर्म-प्रचार-मार्गों से लाख दर्जे अच्छी है।

२५ अगस्त १९३३

: ८ :

उत्कल में पाँच दिन

जब गांधीजी ने उत्कल में पैदल पर्यटन शुरू किया तो सुना कि सवेरे-सांझ छाँह में चलते हैं, आम्रकुंजों में टिकते हैं, तारों-जड़े आसमान के नीचे सोते हैं। खाने को खेतों से ताज़ी तरकारी मिलती है। आम तो ऊपर ही लटकते रहते हैं, तोड़ लिये और खा लिये। दूध सामने दुहा, पी लिया। गांधीजी के साथ कुछ दिन रहने का आनन्द और उसी के साथ ऊपर-नीचे, दायें-बायें, प्रकृति के सुहावने दृश्यों का यह मनमोहक विवरण किसके लिए लुभावना न होगा? आखिर मैं भी पहुँच ही गया। पहुँचते ही देखता हूँ कि गांधीजी ५ फीट लम्बी-चौड़ी एक तंग कोठरी में बैठे लिख रहे हैं। एक लड़का पंखा झल रहा है। बाहर छाया में दरियों पर

लोग इधर-उधर पड़े हैं, कोई खा रहा है, कोई सो रहा है।

गांधीजी ने कहा, "अच्छे समय पर पहुँचे। कल तो रात को वर्षा के मारे परेशानी रही। रातभर कोई सोया नहीं। एक तंग कोठरी में २५ जनों ने बैठकर रात बिताई।" सुनते ही मेरा माथा ठनका। गांधीजी ने मेरी ओर इशारा करके एक भाई से कहा, "अच्छा इनके खाने का क्या प्रबन्ध है?" मैंने कहा, "जी, दूध लिया करता हूँ।" किसीने आहिस्ते से कहा, "दूध तो नहीं है।" अपनी परेशानी छिपाने के लिए मैंने कहा, "कोई चिन्ता नहीं, आमों से काम चल जायगा।" श्री मलकानीजी मेरे अज्ञान पर मुस्करातेहुए कहने लगे, "यहाँ आम कहाँ?" मैंने साहस करतेहुए कहा, "देख लेंगे।" "खा लेंगे" ऐसा तो कैसे कहता। अन्न हज़म होता नहीं, फल-दूध का यहाँ नाम नहीं। गांधीजी ने कहा, "अच्छा, नहा तो लो।" कुएँ पर गया। अन्दर झाँका तो पानी में कीचड़ भरा था। ऐसा पानी पीने की तो कौन कहे, पाँव धोने में भी सूग आती थी। किसी तरह बदन को साफ-सूफ करके पोखरे की पाज पर दरी डालकर सो रहा। सोचा, खाने-पीने को न सही, सो तो लें। दो घंटे के बाद एक स्वयंसेवक दो गाँवों में 'हाँड' कर पाँच बकरियाँ दुहाकर आध सेर दूध लाया। उसे हसरतभरी निगाह से देखकर मैं पी गया। पीने के बाद ही ध्यान में आया कि

न मालूम यह पाँच बकरियाँ कितने बच्चों का मन भरतीं। पेट तो आध सेर दूध से कितनों का क्या भरता ! फिर लम्बी साँस लेकर लेट रहा। स्व० बंकिमबाबू ने भारतवर्ष की वन्दना में इसे 'सुजलां सुफलाँ शस्यश्यामलां' कहा है। उत्कल में भी जल की कमी नहीं। सुफला भी है। भूमि उपजाऊ है। पर न "सुखदा" है, न "वरदा"। बाढ़ खूब आती है। और शान्तनु जैसे पुत्र पैदा करता था और गंगा उन्हें बहा ले जाती थी, वैसे ही उड़िया बोता है और बाढ़ सब कुछ बहा ले जाती है। जहाँ हम लोग बैठे थे वहाँ बाढ़ आने पर पुरसों पानी चढ़ जायगा। खेती नष्ट हो जायगी। पशु मर जायँगे। मकान गिर जायँगे। घर से निकलना मुश्किल हो जायगा। बीमारी फैल जायगी। लोग बेमौत मरेंगे। बाढ़ के चले जाने पर लोग थके-माँदे फिर खेती करेंगे। फिर झोंपड़ी की मरम्मत करेंगे और फिर बाढ़ से लड़ने की तैयारी में लगेंगे।

शायद बाढ़ की मार से उड़िया इतना शिथिल हो गया है कि अब उसमें उत्साह नहीं। शायद दुःख को भूलने के लिए ही अफीम की लाग भी लगा ली है। आँखों म न तेज है, न उत्साह। बाढ़-निवारण के लिए सरकार ने एक कमेटी बैठाई। उसने कुछ अच्छी-अच्छी सिफारिशें भी कीं, पचासेक लाख का खर्च बताते हैं। यदि इन सिफारिशों पर चला

जाय तो उड़िये के जीवन में एक नई स्फूर्ति आ जाय, एक नई आशा पैदा हो जाय। पर फुर्सत किसे ? बाढ़-निवारण कमेटी की जाँच-रिपोर्ट आज सरकारी आलमारियों की शोभा बढ़ा रही है। सुना, सिफारिशों के अमल में लाने से कुछ ज़मींदारों को भी क्षति है, इसलिए भी आगे बढ़ने में रुकावट है। मध्यप्रान्त से पानी चलता है, जो उत्कल में आकर बाढ़ उत्पन्न करता है। रेल न थी, तब पानी सीधा समुद्र में जा गिरता था। अब रेल और नहरों के बनने के बाद उनकी पाज के कारण पानी को रुकावट हो गई है ऐसा इस विषय के विशेषज्ञ लोग कहते हैं। दुखी, दरिद्र, दीन उत्कल की यह करुण-कहानी किसका दिल नहीं दहला देगी ? यमलोक में पहुँचने के लिए वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है, उत्कल में भी वैतरणी नदी है। मानों यह नाम यमलोक और उत्कल का सादृश्य दिखाने के लिए ही किसीने रखा हो। फर्क़ इतना ही है कि यमलोक में भूख नहीं लगती, उत्कल में लगती है।

ऐसे प्रदेश में गांधीजी क्या आये मानों भगवान् ही आ गये। उत्कल में गोपबाबू का, मेहताबाबू का, जीवारामभाई का अलग-अलग आश्रम है। गांधी-सेवाश्रम नाम का एक और आश्रम है। ये सभी आश्रम उड़ीसा की सेवा में रत हैं। जैसे हाथी के खोज में सभी खोज समा जाते हैं, वैसे

वाड़ों में जितनी संस्थाएँ सेवा के लिए उत्कल में पहुँचती हैं उनके बारे में उड़िया यही समझता है कि यह गांधी के ही आदमी हैं। अब तो गांधीजी स्वयं आ गये, इसलिए उड़िये के हर्ष का क्या ठिकाना। उड़िया समझता है, अब दुःख दूर होगा। इसलिए गांधीजी के सामने कीर्तन करता है, नाचता है, स्त्रियाँ उलूध्वनि करती हैं। दो-दो हज़ार आदमी साथ में चलते हैं, प्रार्थना में हज़ारों मनुष्य आते हैं, और बड़े जतन से ताँबे के टुकड़े पैसे, अधेले, पाई लाते हैं जो गांधीजी के चरणों में रख जाते हैं। **"भोजने यत्र सन्देहो धनाशा तत्र कीदृशी !"** पर उड़िया भूखा है तो भी गांधीजी को देता है। बीस-बीस कोस से चलकर आनें वाले नरकंकाल का, धोती की सात गाँठों में से सावधानी-पूर्वक एक पैसा निकालकर गाँधीजी के चरणों में रख देने का दृश्य सचमुच ही रुलानेवाला होता है।

वर्षा आरम्भ होते ही पैदल यात्रा में रुकावटें आने लगीं। गांवों में झोंपड़ियों की तो वैसे ही कमी रहती है और गाँधीजी का दल ठहरा सौ-डेढ़सौ आदमियों का। जबतक वर्षा न थी, तबतक तो आकाश के नीचे सो लेते थे। अब झोंपड़ियों की जरूरत पड़ने लगी और रात को कष्ट होने लगा। कीड़े-मकोड़े, कनखजूरे बुरी तरह लोगों के बिस्तरों पर चक्कर काटने लगे। एक दिन डेरे के पास

ही बड़े-बड़े चार साँप भी देखने में आये । रात को ओस के मारे कपड़े सब के भीग जाते थे । लोगों के बीमार होने की आशंका होने लगी, किन्तु गांधीजी के वातावरण में किसीको इसकी फिक्र न थी । मुझे लगा कि मैं गांधीजी से कहूँ कि यदि वर्षा में यह दौरा जारी रहा, तो मण्डली में बीमारी फैल जाने की आशंका है ।

भद्रक से जब हम लोग १२ मील की दूरी पर एक गाँव में पड़ाव डाले पड़े थे, तब मैंने इसकी चर्चा छेड़ी । गांधीजी को बात जँची । कहने लगे "अच्छा, तो कल एक ही मंज़िल में हम भद्रक पहुँच जायँगे ।" मेरे लिए तो एक मंज़िल में १२ मील तय करना कठिन काम था । इसलिए मैंने मोटर से जाना निश्चित किया । गांधीजी अपने दल के साथ मुझसे अढ़ाई घंटा पूर्व चले और यद्यपि मैं मोटर से चला, तो भी गांधीजी मुझसे आध घंटा पहले ही भद्रक-आश्रम में पहुँच गये । रास्ते में लोगों से पूछने पर पता चला कि गांधीजी बड़ी तेज़ी से चलते जा रहे थे और उनको पकड़ने के लिए उनके साथवालों को उनके पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता था । पेंसठ वर्ष की अवस्था में गांधीजी की यह शारीरिक शक्ति अवश्य ही चित्त को प्रसन्न करती है । इसका रहस्य उनका संयमी जीवन है । दिन-भर में क़रीब एक सेर दूध और दो छटाँक शहद, उबालीहुई

तरकारी और कुछ आम—यह उनका सारा भोजन है। रात को आमतौर से वह दो-तीन बजे नींद से उठ जाते हैं और जब संसार सोता है तब वह जागतेहुए काम करते रहते हैं। इतना शारीरिक परिश्रम इस उम्र में अवश्य ही एक अद्भुत चीज़ है। जब इतनी फुरती के साथ गांधीजी को १२ मील की मंज़िल तय करते देखा, तो मैंने मन-ही-मन मिन्नत की कि भगवान् हमारे भले के लिए उन्हें लम्बी उम्र दें। जो लोग गांधीजी के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हों, वे जान लें कि इन वर्षों में गांधीजी को मैंने इतना स्वस्थ नहीं देखा। देश के लिए यह सौभाग्य की बात है।

उत्कल के सेवकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है। इनमें गोपबन्धु चौधरी और श्री जीवरामभाई दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों मानों सेवा के साक्षात् अवतार हैं। गोपबन्धुबाबू तो असल वैष्णव हैं। **"पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे"**। यह अपने ज़माने में डिपुटी-कलेक्टरी कर चुके किन्तु सेवा के लिए सब कुछ छोड़ा। अभिमान तो मानों इनको छू नहीं गया। जीवरामभाई का यह हाल है कि लाखों रुपये छोड़कर सेवक बने। हम लोग जब सो जाते थे, तब यह रात को अकेले डेढ़ सौ आदमियों का पायखाना साफ़ करते

थे। धन्य है इनकी जननी को !

इस यात्रा में हास्य रस की भी कमी नहीं थी। मिस्टर ब्यूटो (Buto) एक जर्मन युवक हैं, जो इस यात्रा में गांधीजी के साथ घूमते थे। उनका त्याग तो अव्वल दर्जे का है। गाँव में खाने की तो यों ही कमी थी। श्री ब्यूटो हट्टेकट्टे जवान और बचपन से मांस पर पले हुए। इसीलिए अधभूखे रहते थे, पर अत्यन्त प्रसन्न। एक तहमद पहनकर फिरते थे। जवान तो हैं ही, मूँछें अभी आई नहीं। गाँववाले पड़ाव के चारों तरफ़ सैकड़ों की संख्या में सुबह से शामतक झाँकते रहते थे कि उन्हें गांधीजी का दर्शन हो जाय। इस बीच में तरह-तरह की चर्चा करते थे। एक ने ब्यूटो की तरफ अँगुली उठाकर कहा कि मीरा बहन यही है। सबको हँसी आ गई। कोई कहता था, जवाहरलाल भी साथ आया है। गांधीजी कौन-से हैं यह भी उन दर्शकों के लिए एक पहेली थी। एक ने मीरा बहन को देखकर कहा कि यही गांधीजी हैं। दूसरे ने किसी अन्य की ओर इशारा करके कहा, नहीं, गांधीजी यह हैं। तीसरे ने कहा, नहीं गांधीजी तो महात्मा हैं, वह सबको दिखाई नहीं देते !

गांधीजी के दल के लिए ऐसी-ऐसी बातें टानिक का काम देती रहती थीं। किसीनें बताया कि मीरा बहन एक

मर्तबा ज़नाने डिब्बे में मुसाफ़री करती थीं। इतने में टिकट-कलेक्टर टिकट देखने आया । मीरा बहिन का सिर तो मुँडा हुआ है ही। टिकट कलेक्टर आया उस समय ओढ़नी सिर पर से उतर गई थी। टिकट कलेक्टर ने समझा कि यह पुरुष है और कहने लगा "आपको पता है, यह ज़नाना डिब्बा है ?" मीरा बहन नें तुरन्त अपनी ओढ़नी सिरपर खींची। टिकट कलेक्टर बेचारा झेंपकर चलता बना। हम लोगों ने यह कहानी सुनी तो हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ गये।

उत्कल की यह यात्रा हँसी और रुलाई का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण थी।

२२ जून १९३४

: ६ :

हिन्दुओं को नैतिक चुनौती

डाक्टर अम्बेडकर ने जबसे हिन्दू-धर्म त्यागने का अपना निश्चय प्रकट किया है तबसे चारों तरफ़ एक तहलका-सा मच गया है। हिन्दूजाति पर आज सदियों से आफत आ रही है और कब इसका अंत होगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। पर हिन्दू जनसमाज में जैसी सामुदायिक जाग्रति आज दिखाई देती है, वैसी शायद सैकड़ों वर्षों में भी न देखने में आई होगी। इसीलिए इस चोट से सार्वजनिक खलबलाहट-सी दिखाई देती है और हिन्दू-नेता जी-जान से इस फिक्र में हैं कि अम्बेडकर हिन्दू नाम को न छोड़ें। किसी एक आर्यसमाजी सज्जन ने तो यहाँ तक कह डाला है कि यदि अम्बेडकर के कोई सुपुत्र हो

तो वह अपनी लड़की उसे ब्याह देने को तैयार हैं। अन्य सज्जन हिन्दू-धर्म की महत्ता दिखाते हुए अम्बेडकर से धर्म-त्याग न करने की प्रार्थना करते हैं। सुना है, पूज्य मालवीयजी अम्बेडकर को समझाने जानेवाले हैं; पर इसका कोई फल होगा, ऐसी उम्मीद करना बेकार है।

ईसाई, मुसलमान आदि भी अम्बेडकर का दरवाज़ा ज़ोरों से खटखटा रहे हैं और उन्हें अपने-अपने धर्म की महत्ता दिखा रहे हैं। क्या हिन्दू, क्या ईसाई और क्या मुसलमान सभी यह समझ बैठे हैं कि जहाँ एक अम्बेडकर ने धर्म छोड़ा, लाखों हरिजन हिन्दू-धर्म को तिलाञ्जलि दे देंगे, और हिन्दुओं को जिस बात का भय है वही बात ईसाई और मुसलमानों के लिए आशा की किरण है। इसलिए हिन्दू एक तरफ और अन्यधर्मी दूसरी तरफ! इनके बीच काफ़ी खींचातानी है।

दोनों पक्षवाले ख्वाहमख्वाह धर्म की महत्ता दिखाते हैं। धर्म तो—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

यह है। और यह कहना चाहिए कि जिसमें ये दस लक्षण पाये जायँ वही भागवत, आर्य या हिन्दू है। इसी तरह मुसल्लम-बा-ईमान (पूर्ण धार्मिक) ही मुसलमान

कहलाना चाहिए । पर आज तो ये सब बातें पोथी-पत्रों तक ही सीमित हैं । न तो इन दस लक्षणों की कसौटी पर कसे जाने के कारण ही कोई हिन्दू कहला सकता है और न मुसलमान कहलाने के लिए मुसल्लम-बा-ईमान होने की जरूरत है । हिन्दू, मुसलमान आदि शब्दों की परिभाषा तो अब समाज-विशेष तक ही परिमित है । अम्बेडकर को भी कोई आध्यात्मिक उधेड़-बुन नहीं है, जो अन्वेषण करने में लगे हों कि इन दस लक्षणोंवाला धर्म श्रेष्ठ है या इस्लाम । उन्हें तो 'हिन्दू' नाम अखरता है और वह उसे छोड़ने की फिक्र में हैं । हमें भी इसी बात की फिक्र है कि वह बराय नाम भी हिन्दू बने रहें, चाहे उसमें सत्य धर्म रहे, चाहे जाय । संख्या बनी रहे, यही चिंता है; और यह तृष्णा यदि स्वच्छ हो तो कोई अनुचित भी नहीं है । **"घण जीतेरे राजिया ।" "कलौ संघशक्तिः ।"** पर क्या इस कूद-फांद या बेतुकी बौखलाहट से हमारी संख्या बढ़ सकती है, अथवा जितनी है उतनी भी कायम रह सकती है ?

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि अम्बेडकर की इस चुनौती से जहाँ काफी उत्तेजना है, वहाँ शान्त और सुस्पष्ट सूझ-समझ का दिवाला-सा दिखाई पड़ता है । एक रोगी की जान बचाने के लिए पचासों उपचारक

भिन्न-भिन्न दवाइयाँ लेकर उसे पिलाने का हठ करें तो रोगी के रहे-सहे दिनों का भी ख़ात्मा ही समझना चाहिए। एक बहुत बड़े बाँध में, जो चलनी की तरह छिद्रोंवाला हो गया हो और जिसमें से फुहारे बड़े ज़ोर से फूट रहे हों, निकलते हुए पानी को लोटों-लोटों भर-भरकर रोकने का प्रयास करना हास्यास्पद ही होगा। इस सम्बन्ध की हमारी कार्रवाई भी कुछ वैसी ही है। अम्बेडकर को भीतर रखने की जितनी चिंता हो रही है, उसका शतांश भी हिन्दू-शरीर को स्वस्थ करने की नहीं। बेमरम्मत हिन्दू-समाज-रूपी घर चाहे अम्बेडकर को रख ले, तो भी वह और लाखों अम्बेडकर खो बैठेगा। हमारी संख्या का आधार हिन्दू-जमात के सुधार पर ही अवलम्बित है।

आश्चर्य तो यह है कि ऐसे विकट समय में भी हम वस्तुस्थिति को देखने से इन्कार कर रहे हैं। आज तक हज़ारों विधवायें, अनाथ और हरिजन विधर्मी बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। मैं एक भी ऐसे नव-विधर्मी को नहीं जानता जिसने कुरान या बाइबिल पर आशिक होकर चुटिया कटाई हो। किसी ऐसे समाज-परित्यक्त से पूछिए, वह बतायेगा कि हिन्दू-समाज को उसने नहीं, किन्तु समाज ने उसे त्याग दिया है। फिर अम्बेडकर के

इस निश्चय पर इतनी घबराहट क्यों ? और यदि रोग से मुक्त ही होना अभीष्ट है तो हम यह क्यों नहीं देखते कि अम्बेडकर भी उसी पुरानी लकीर पर जा रहे हैं जिसपर से करोड़ों हिन्दू त्रस्त होकर हिन्दू-समाज को तिलाञ्जलि देते हुए गुजर गये हैं। जब कोई लड़की मुसलमान द्वारा भगाई जाती है तब हमें मुसलमानों पर रोष आता है; पर क्यों नहीं हम अपनी नालायकी पर रोष करते जो उस लड़की के भगाये जाने की जिम्मेदार थी ?

कुछ वर्षों की बात है। एक मारवाड़ी लड़की को एक मुसलमान भगाकर ले गया। समाज को काफी रोष हुआ। खिलाफत का जमाना था, इसलिए यह मसला मुसलमान नेताओं तक पहुँचाया गया। उन्होंने शरमाशरमी में आकर कुछ मदद भी की; पर लड़की के जब वापस आने की आशा बँधी तब सबके चेहरों पर स्याही दौड़ गई। सवाल यह हुआ कि उस लड़की को उसके घरवाले रख सकते हैं या नहीं ? पंचों ने व्यवस्था दी कि वह घर में नहीं आ सकती। नौजवानों ने रोष दिखलाया, पर उनकी एक न चली। आखिर वह लड़की नहीं आई, वहीं अपघात करके मर गई। हिन्दू-समाज ने यह साबित कर दिया कि लड़की ने हमको नहीं, किन्तु हमने लड़की

को छोड़ा। यह पन्द्रह वर्ष की बात हुई। आज भी किसी विधवाश्रम में जाकर वहाँ रहनेवाली किसी विधवा का इजहार लीजिए। कुछ ऐसी ही कथा सुनने को मिलेगी।

पर अब कुछ तुरत-ताजा बानगी भी देखिए। वर्धा के पास एक छोटा-सा सिंदी ग्राम है। वहाँ मीरा बहन (मिस स्लेड) ने ग्रामोत्थान का कार्य प्रारंभ किया। वहाँ वह एक छोटी-सी झोंपड़ी बनाकर रहने लगीं। जब पहले-पहल वहाँ पहुँचीं तब कौतूहलवश लोग इकट्ठे हो गये और उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। पानी की ज़रूरत पड़ी, तब एक नौजवान पानी ले आया और घड़े में पानी डालकर चला गया। पर यह कौतूहल कबतक ठहरता ? आखिर दूसरे दिन मीरा बहन को पानी की ज़रूरत पड़ी तब घड़ा लेकर कुएँ पर पहुँचीं। जिन चेहरों पर पहले मैत्री का प्रकाश था वही आँखें दिखाने लगे और बोले--"आप यहाँ पानी नहीं निकाल सकतीं, पानी चाहिए तो अपना अलग कुआँ बनवालो"। एक बनिये के कुएँ पर गईं, महारों (हरिजनों की एक उपजाति) के कुएँ पर गईं, माँगों (हरिजनों की एक दूसरी उपजाति) के कुएँ पर गईं, पर मीरा बहन के घड़े को कुएँ में डलवा कर कुआँ कौन अपवित्र करावे ! गाँववाले मीरा बहन की प्रार्थना में आते हैं, अपना दुःख-दर्द सुना जाते हैं, पर अपने

कुएँ में मीरा बहन का घड़ा नहीं जाने देते। मीरा बहन दवा देती हैं तब सब लोग ले जाते हैं; ब्राह्मण भी ले जाते हैं, पर दवा बिना स्पर्श किये ऊपर से डालनी पड़ती है, नहीं तो ब्राह्मण अपवित्र हो जाय! मीरा बहन कितना ही उपकार क्यों न करें, पर पानी नहीं मिलने का। अम्बेडकर के जाने से हमारा समाज नहीं डूबेगा, पर यह सुलूक है जो हमारे समाज को डुबो देगा।

जो हमारी संख्या कायम रखना चाहते हैं उन्हें अक्ल से काम लेना चाहिए। चाहे एक हिन्दू लड़की मुसलमान द्वारा भगाई जाय या एक लावारिस धोखे से मुसलमान बना लिया जाय, चाहे एक हरिजन प्रलोभन से ईसाई बन जाय अथवा अम्बेडकर हिन्दू-समाज को तिलांजलि देने का निश्चय करें, यह सब एक ही रोग के भिन्न-भिन्न लक्षण हैं। जानेवाले खुद नहीं जा रहे हैं, उन्हें हम भगा रहे है। हिन्दू-घर को हमने हरिजन, विधवा, अनाथ और जाति-बहिष्कृतों के लिए रहने लायक नहीं रक्खा; ऐसी हालत में जो हो रहा है वह अनिवार्य है। संख्या क़ायम रखना है तो अम्बेडकर को या किसी अन्य बाहर जानेवाले को रोकने से नहीं, अपने घर की सफाई करने से ही तात्पर्य सिद्ध होगा। कलेजे को चाक करके साँस को कायम रखने का प्रयास करना मूर्खता नहीं तो क्या है?

हिन्दू-समाज का भला हो यदि अम्बेडकर के इस निश्चय से हमें कुछ सबक मिले। क्या हम अम्बेडकर को भूलकर समाज की सफाई में नहीं लग सकते ? सौ कथनी से एक करनी हज़ार बार अच्छी है; पर इस समय तो केवल फिजूल का होहल्ला है, इसमें करनी का नितान्त अभाव है।

११ जनवरी १९३६.

: १० :

ईश्वर-भजन अर्थात् लोक-कल्याण

कुछ महीने की बात है—एक सज्जन ने गांधीजी को लिखा कि अब आप संसार में थोड़े ही दिनों के मेहमान हैं, इसलिए बेहतर यह है कि आप सारे काम-धाम को छोड़कर अपना अन्तिम समय हरि-भजन में बितावें। गांधीजी ने जो उत्तर भेजा, उसका भावार्थ यह है :—

"आपने लिखा यह ठीक है, पर हम अन्तिम समय को ही ईश्वर-भजन में बितावें और बाकी जीवन में बेफिक्र रहें,यह सारी भावना भूल भरी है—हमारी गर्दन तो हर क्षण काल के हाथों में पड़ी है, इसलिए सारा-का-सारा जीवन ही अन्तिम घड़ी है, ऐसा मानना चाहिए। और मेरी बात तो यह है कि मेरा प्रतिक्षण ईश्वर-भजन ही में व्यतीत होता है।"

गांधीजी का यह कथन कोई अनोखा नहीं है। जो लोग भजन का अर्थ आँख मूंदकर बैठ जाना करते हैं, उन्हें चाहे यह बात कुछ आश्चर्यमय सी भले ही लगे। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है : **"यज्ञः कर्म समुद्भवः"** अर्थात् यज्ञ का कर्म में ही समावेश है। **"नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।"** किसी भी मनुष्य का एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं बीतता। प्रश्न इतना ही है कि वह कर्म **'स्व'** के लिए होता है या **'पर'** के लिए। जो कर्म 'पर' के लिए है, वही यज्ञ है। स्वार्थी लोग जिस तरह आसक्त होकर अपने लिए कर्म करते हैं, महापुरुष अनासक्त होकर निरन्तर लोगों के कल्याण के कर्म करते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा —मेरे लिए तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है, पर

"यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।"

यदि अंगड़ाई लेने की भी फुरसत लिए बिना मैं काम में न लगा रहूँ, तो लोग भी आलसी बन जायेंगे।

गांधीजी की भी आज वही हालत है। बिना विश्राम लिए वह हर क्षण 'पर' के लिए कर्म करते हैं, अर्थात् उनका यज्ञ बराबर चलता ही रहता है। फिर क्यों न वह कह सकें कि मैं हरिभजन में लगा हुआ हूँ ?

अक्तूबर १९३८.

बिखरे विचार

: १ :

मुझसे सब अच्छे

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन दे देती है। जब-जब मैं घर पर रहता हूँ, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज़ सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहाँ पहुँची होगी! कहाँ से चली, कितना उपकार किया, इसका अन्दाज़ कौन लगावे? भारत का पश्चिमी सागर यहाँ से करीब ६०० मील होगा; किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र ही समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के

प्रदेशों से पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को जीवन देती हुई यह पवन यहाँ पहुँची होगी; और अब यहाँ के लोगों को सुख देती हुई, अपने कर्तव्य-पालन के लिए, शान्तभाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है फिर भी अखबारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती ? हवा से मैंने कहा--"हवा ! तुम संसार का इतना उपकार करती हो; किन्तु तुम्हारी सेवा की खबर मैं अखबारों में तो कभी नहीं पढ़ता ? तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी बात करो उसको बढ़ा-चढ़ा के, अखबारों में छपा दिया करो।" हवा ने कहा—"कौन-सा अखबार अच्छा है ?" मैंने कहा--"हिन्दी-अंग्रेज़ी के बहुत से अखबार हैं। सभी में अपनी प्रशंसा छपाया करो।" हवा ने पूछा, "क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक में भी तुम्हारे यहाँ के अखबार जाते हैं ?" मैंने कहा, "वहाँ तो नहीं जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा--"तुम पक्के कूप-मंडूक हो, तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले रखा है, और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहाँ सब खबरें अपने आप पहुँचती हैं--भली-बुरी सभी बातें वहाँ छपती रहतीं हैं। किसी बात का वहाँ पक्षपात नहीं।

किसी के कहने से वहाँ कोई खबर नहीं छापी जाती है। सच्ची ख़बरें वहाँ स्वयं छप जाती हैं। मैं तुम्हारी तरह मूर्ख नहीं कि विज्ञापनबाज़ी के दलदल में फँस जाऊँ। निस्स्वार्थ भाव से चुप-चाप प्राणिमात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे बड़ी बुरी लगी। मैं और हवा जैसी जड़वस्तु का अनुकरण करूँ? मन में आया कि एक व्याख्यान ही झाड़ दूँ। अख़बारों में तो उसका अतिरंजित विवरण छप ही जायगा। किन्तु पवन को तो **"लगन लगी प्रभु पावन की"**, उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहाँ? वह तो **"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्"** गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊँट महाशय अपनी थकान उतारने के लिए हाथ-पाँव पीट-पीट कर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर, क्रोध में, ऊँट से कहा—"तुम बड़े गँवार हो; ज़रा भी तमीज़ नहीं है। पशु ही जो ठहरे। हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते हैं, उनमें गरीब मनुष्य भी किनारे खड़े होकर झुक के हमें प्रणाम किया करते हैं। हम जब-जब टहलने जाते हैं तब-

तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलनेवालों का नाकों-दम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उलटा धूल उछालना शुरू कर दिया; इसीसे मालूम होता है कि तुम गँवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊँट ने अपना व्यायाम तो बन्द कर दिया, पर मेरी बात सुन कर खिल-खिला कर हँस पड़ा। बोला--"तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है,--उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा; किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता न करना। बस, यह समझ लो कि मुझसे तुम बहुत गये-बीते हो।" मैंने कहा--"ऊँट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है।" ऊँट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी, आँखों में तेज चमकने लगा; अपने नथनों को फटकार कर उसने कहा—"क्या केवल मनुष्य-देह मिलने ही से मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है? क्या औरंगजेब, नादिरशाह, महमूद गज़नी, हत्यारा अब्दुर्रशीद और ऐसे-ऐसे अनेक पापी अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी बित्ते पर क्या वे अपने को हम पशु से ऊँचा समझ सकते हैं? यदि तुम भी ऐसा

मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को शतबार धिक्कार है।"

मैं कुछ ठंडा पड़ गया। मैंने कहा--"भाई ऊँट, उन पापी मनुष्यों की बात न करो। वे तो नर-राक्षस थे। किन्तु, मैं तो ऐसा नहीं हूँ। मैं तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ में, मैं तुमसे कहीं अच्छा हूँ।" ऊँट फिर हँस पड़ा। कहने लगा--"अच्छा, ज़रा बता तो दो, तुममें मुझसे कौनसी अच्छी बात है ?"

मैं सोचने लगा, क्या बताऊँ ? आख़िर धन के अलावा मुझमें और कौन-सी अच्छी बात है जिसका मैं गर्व कर सकूँ ? अत्यन्त साहस करके मैंने दबी ज़बान से कहा—"अच्छा तो देखो, तुम जानते हो, मैं त्याग से कितना प्रेम करता हूँ, सादगी से रहता हूँ, खादी पहनता हूँ; यह क्या कुछ कम है ?" ऊँट ने गर्व के साथ कहा, "इसमें गर्व करनें की क्या बात है ? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नहीं पहनता।" मैंने कहा, "और सुनो, मैं भोजन भी सादा खाता हूँ, मिर्च-मसाले नहीं खाता।" ऊँट ने कहा, "अच्छा त्याग किया; मुझे तो देखो कि केवल सूखी पत्तियाँ ही चबाकर रह जाता हूँ।" मैंनें कहा, "मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊँट ने कहा, "क्यों इतना अभिमान करते हो ? मैंने तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया—सो मैं तो बालब्रह्मचारी हूँ।"

मैंने कहा, "मुझमें ईर्षा-द्वेष अधिक नहीं, झूठ बहुत कम बोलता हूँ; सो भी अनजान में; रोष भी कम आता है।" ऊँट ने कहा, "इसमें कौन-सी बड़ाई की बात है ? मुझ-में न ईर्षा है, न द्वेष, और न क्रोध; झूठ तो जीवन में कभी बोला ही नहीं।"

मैंने कहा—"मुझ में सेवावृत्ति है।" ऊँट ने कहा "इसका नमूना तो हम रोज देखते हैं। कल एक पीला बछड़ा रो रहा था, क्योंकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, सुनते हैं, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ करा-कर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ों में इसी बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट सभा हुई थी, उसमें मृतक के प्रति सहानुभूति और तुमारे प्रति घृणासूचक प्रस्ताव भी पास किये गये थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊँट, घोड़ों और बैलों को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लँगड़ा किया है। कितनों को अपनी मोटर के धक्कों से गिराया है। अच्छा सेवा का दम भरने चले हो। मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ, और न जिह्वा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बन्ध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ; फिर भी बेंत, कोड़े और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूँ। इसी को सेवा-व्रत कहते हैं।

तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुम्हें कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर; सफर करते हो तो मनों सामान एवं सुख-सुविधा की सामग्रियाँ साथ में चलती हैं, तुम्हारे लिए और बोझा ढोना पड़ता है हमको। अकाल पड़ता है तो हम लोग भूखों मरते हैं, पीने को पानी नहीं मिलता, किन्तु तुम्हारे बग़ीचों की फुलवाड़ी को सरसब्ज रखनें में ही ग्राम के अनेक बैलों की शान्ति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्रायः ब्रह्मचारी रहते हैं; किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य समाज इस विषय में बड़ा पतित है। शर्म की बात है कि इस पर भी तुम अपने को हम से श्रेष्ठ समझो।"

ऊँट की बात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी—"मूर्ख, तू ऊँट से भी गया-बीता है।" पास में खड़े हुए करीर के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा—"ऊँट सच कहता है।" तब मैंने कहा—"प्रभो! मुझे ऊँट जितना आत्म-बल तो दे दो।"

सहसा आकाश में बिजली चमकी। मेघ गर्जा। सुननें वालों ने सुना। कहनेवालों नें कहा:—

"मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,

ऐसो निमक हरामी ।

मो सम कौन कुटिल खल कामी ?"

किसी ने कहा, कहने वाला और सुनने वाला दोनों एक हैं। किसी ने कहा, यह अन्तर्नाद है। मैंने चिल्ला कर कहा—"मुझ से सब अच्छे हैं।"

मार्गशीर्ष, १९८४.

: २ :

परदा

कवि अकबर ने जब अपनी जाति से परदे की प्रथा को उठते देखा, तो उनके मुख से सहसा निकल गया—

बेपरदा नज़र आईं कल जो चन्द बीबियाँ।
अकबर ज़मी में ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया।।
पूछा जो उनसे आपका परदा वह क्या हुआ?
कहने लगीं कि अक्ल पै मर्दों की पड़ गया।।

महाकवि अकबर अहले-इस्लाम के और अपने दीन के पाबन्द थे। कुरान शरीफ में परदे की ज़ोरों से आज्ञा है और इसलिए अपनी जाति को क़ुरान के फ़रमान के ख़िलाफ जाते देख अगर वह "ग़ैरते क़ौमी" से 'ज़मी' में क्या, पाताल में गड़ जाते, तो कोई अचम्भे की बात न कही

जाती, किन्तु हिन्दू जाति न तो क़ुरान शरीफ की ही क़ायल है और न उसके यहाँ "वेपर्दगी" हराम है। फिर भी जब परदे का अन्त होते देख कुछ भाई—जो बुरी-से-बुरी रुढ़ि को भी सनातन-धर्म मान बैठे हैं और जिनका प्राचीनत्व अबसे १०० या २०० वर्षों तक ही सीमित है—परेशान होते हैं और परदे के लोप में सनातन-धर्म का ही ह्रास देखते हैं तो अवश्य आश्चर्य होता है। असल बात तो यह है कि हममें इतनी पराधीनता आ गई है कि काल के चक्र के साथ जो २ बुराइयां हममें आ गई हैं उनको सद्गुण और उनकी रक्षा करने को हम सनातन-धर्म मानने लगे हैं। बड़ी बालिकाओं के विवाह का विचार भी करो तो 'धर्म गया'! विधवा-विवाह का तो नाम भी सुनना नहीं चाहते। अछूत चाहे विधर्मी होकर हम पर शासन करें; परन्तु जब तक वे चुटिया रखते हैं हम उन्हें पास नहीं फटकने देते। हिन्दू जाति का ह्रास चुपचाप सहन करते रहेंगे। पराधीनता के बोझ को फूल-सा मानकर सिर पर लादे रखेंगे। विधवाओं की दुर्दशा को सुनकर कलेजा कड़ा कर लेंगे। 'संगठन' के सुर में भी सुर मिला देंगे; किन्तु जहाँ कोई क्रियात्मक संगठन की बात उठी कि बस "धर्म डूबा" कह कर झट विरोध करेंगे। यह हमारी गति-विधि है।

जो धर्म स्वयं तो क्या डूबे, डूबते हुए को भी उबार सकता है, उसकी हम अपने दुर्गुणों से रक्षा करने का दावा करें—इससे अधिक बालकपन और क्या हो सकता है ? जहाँ रुढ़ियों तक ही धर्म परिमित होता हो वहाँ परदे को हटाने के उद्योग में भी "धर्म डूबा" का भूत हमें डरा सकता है । "पुरानी सभी बातें बुरी और नई सभी अच्छी" अथवा "पुरानी सभी बातें अच्छी और नई सभी बुरी" इन दोनों में से एक भी सूत्र समझदार व्यक्ति पर असर नहीं कर सकता । फिर भी यह खोज करना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन समय में परदे का क्या स्थान था ।

यदि परदे का "घूंघट" या 'बुर्का' ठीक अर्थ है, तो पुराणों के देखने से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रथा उस समय जारी नहीं थी । प्राचीन गुफाओं की चित्रकारी को देखने से भी यही निर्णय होता है । परदे का पर्यायवाची शब्द ही संस्कृत में नहीं मिलता । इससे यह अनुभव सहज ही में हो सकता है कि परदा आर्य प्रथा नहीं है । हमारी देवियों ने किसी किसी प्रान्त में जब साड़ी को तिलांजलि दे घाघरे (लहँगे) को अपनाया, शायद उसी समय परदे को भी धारण किया होगा । मुसलमानों के राज्य-काल में हमने बहुत से मुसल-मानी रिवाजों को अपनी रूढ़ियों में शामिल किया ।

हुक्का पीना, आसन-सिंहासन के बदले गद्दे-मसनदों के सहारे बैठना, सिर पर मुकुट के बदले बड़े साफों का बाँधना, स्त्रियों में कर्णछेद, सूथन, कुर्त्ते व अनेक नये प्रकार के आभूषणों का प्रचार, नई तरह के केश-विन्यास, कब्रों की पूजा करना इत्यादि-इत्यादि अनेक क्रिया-प्रक्रियाओं को समय के अनुकूल फैशनेबिल बनने के लिए, हमने अपनाया। आज मुसलमानी राज्य नहीं है, परन्तु मुसलमानी संस्कृति के अनेक भग्नावशेष आज भी हममें अनेक रूढ़ियों के रूप में मौजूद हैं और तुर्रा यह यह है कि उन्हें छोड़ने में भी हम 'सनातन-धर्म' का ह्रास देखते हैं। बस, परदे का भी यही हाल है।

वास्तव में तो, चाहे कोई वस्तु प्राचीन हो चाहे अर्वाचीन, जब तक हमें उसके लाभ का पूरा प्रमाण न मिले और उसकी बुराई प्रत्यक्ष हो, तो उसे बनाये रखना बुद्धिमानी नहीं। आखिर परदे के पक्ष में ऐसी कौनसी बात है, जो हमें उसकी ओर आकर्षित कर सके। परदे के पक्षपाती कहते हैं कि परदा उठा देने से स्त्रियों का शील कम हो जायेगा और अनाचार की वृद्धि होगी। उनके इस मत के पक्ष में क्या प्रमाण है? यदि हम इस दलील को स्वीकार करलें, तो फिर उसका तार्किक निष्कर्ष तो यही निकलेगा कि प्राचीन समय में जब परदा

नहीं था तब आज की अपेक्षा स्त्रियों का शील गिरा हुआ था। इसी दलील के आधार पर यह भी मानना होगा कि मुसलमान स्त्रियों का शील हिन्दू स्त्रियों के शील से बढ़ा-चढ़ा है—क्योंकि मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा परदे की कड़ाई है। परन्तु क्या ये बातें स्वीकार करने योग्य हैं? वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन स्त्रियों का शील वर्तमान समय से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था और हिन्दू स्त्रियों का शील मुसलमान स्त्रियों की अपेक्षा अच्छा नहीं तो बुरा अवश्य नहीं है। इसके अलावा गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास आदि प्रान्तों की स्त्रियों का शील—जहाँ परदे का नाम-निशान भी नहीं है—अन्य परदे वाले प्रान्तों से किसी भी प्रकार नीचा नहीं है। हमारे देश के गरीबों में तो परदे का रिवाज़ बहुत कम है, फिर भी धनिकों में गरीबों की अपेक्षा अधिक अनाचार है। शहरों में ग्रामों की अपेक्षा परदे की बहुतायत होने पर भी ग्रामों की अपेक्षा शहरों में चरित्र-दोष अधिक है। ऐसी हालत में यह कैसे माना जा सकता है कि परदे की प्रथा उठने से स्त्रियों के शील को ठेस पहुँचने का भय है? थोड़े दिन पहले मैंने यह प्रश्न एक विदुषी देवी के सामने, जो बम्बई के एक प्रख्यात वनितागृह का संचालन कर रही ह, रखा था। यह देवी नारी मनोवृत्ति

हुक्का पीना, आसन-सिंहासन के बदले गद्दे-मसनदों के सहारे बैठना, सिर पर मुकुट के बदले बड़े साफों का बाँधना, स्त्रियों में कर्णछेद, सूथन, कुर्त्ते व अनेक नयें प्रकार के आभूषणों का प्रचार, नई तरह के केश-विन्यास, कब्रों की पूजा करना इत्यादि-इत्यादि अनेक क्रिया-प्रक्रियाओं को समय के अनुकूल फैशनेबिल बनने के लिए, हमने अपनाया। आज मुसलमानी राज्य नहीं है, परन्तु मुसलमानी संस्कृति के अनेक भग्नावशेष आज भी हममें अनेक रूढ़ियों के रूप में मौजूद हैं और तुर्रा यह यह है कि उन्हें छोड़ने में भी हम 'सनातन-धर्म' का ह्रास देखते हैं। बस, परदे का भी यही हाल है।

वास्तव में तो, चाहे कोई वस्तु प्राचीन हो चाहे अर्वाचीन, जब तक हमें उसके लाभ का पूरा प्रमाण न मिले और उसकी बुराई प्रत्यक्ष हो, तो उसे बनाये रखना बुद्धिमानी नहीं। आखिर परदे के पक्ष में ऐसी कौनसी बात है, जो हमें उसकी ओर आकर्षित कर सके। परदे के पक्षपाती कहते हैं कि परदा उठा देने से स्त्रियों का शील कम हो जायेगा और अनाचार की वृद्धि होगी। उनके इस मत के पक्ष में क्या प्रमाण है? यदि हम इस दलील को स्वीकार करलें, तो फिर उसका तार्किक निष्कर्ष तो यही निकलेगा कि प्राचीन समय में जब परदा

नहीं था तब आज की अपेक्षा स्त्रियों का शील गिरा हुआ था। इसी दलील के आधार पर यह भी मानना होगा कि मुसलमान स्त्रियों का शील हिन्दू स्त्रियों के शील से बढ़ा-चढ़ा है—क्योंकि मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा परदे की कड़ाई है। परन्तु क्या ये बातें स्वीकार करने योग्य हैं? वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन स्त्रियों का शील वर्तमान समय से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा था और हिन्दू स्त्रियों का शील मुसलमान स्त्रियों की अपेक्षा अच्छा नहीं तो बुरा अवश्य नहीं है। इसके अलावा गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास आदि प्रान्तों की स्त्रियों का शील—जहाँ परदे का नाम-निशान भी नहीं है—अन्य परदे वाले प्रान्तों से किसी भी प्रकार नीचा नहीं है। हमारे देश के गरीबों में तो परदे का रिवाज़ बहुत कम है, फिर भी धनिकों में गरीबों की अपेक्षा अधिक अनाचार है। शहरों में ग्रामों की अपेक्षा परदे की बहुतायत होने पर भी ग्रामों की अपेक्षा शहरों में चरित्र-दोष अधिक है। ऐसी हालत में यह कैसे माना जा सकता है कि परदे की प्रथा उठने से स्त्रियों के शील को ठेस पहुँचने का भय है? थोड़े दिन पहले मैंने यह प्रश्न एक विदुषी देवी के सामने, जो बम्बई के एक प्रख्यात वनितागृह का संचालन कर रही ह, रखा था। यह देवी नारी मनोवृत्ति

से पर्याप्त अभिज्ञता रखती थीं। उनको मेरी उलझन पर बेहद दया आई। परदे से भी शील का कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह बात उनकी समझ के बाहर थी।

स्वास्थ्य की दृष्टि से तो परदा एक जंगली प्रथा है। हिन्दू-संगठन की दृष्टि से परदा घातक है। यह तो किसी से छिपा नहीं है कि युवावस्था में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक मरती हैं। मुसलमान स्त्रियों को हिन्दू स्त्रियों की अपेक्षा संक्रामक रोग अधिक सताते हैं। कारण स्पष्ट है, जहाँ शुद्ध वायु और व्यायाम का अभाव हो, वहाँ स्वास्थ्य निभना कठिन है। यदि हिन्दू-संगठन के कार्यक्रम में शारीरिक संगठन को भी कोई स्थान है तो अवश्य ही हम स्त्रियों के शारीरिक संगठन की उपेक्षा नहीं कर सकते। बंगला गाय से उत्पन्न हुआ बैल मारवाड़ी सांड के मुकाबले में अच्छा हो, इस आशा को बलवती बनानें के लिए हमें बंगला गाय की नसल को बलिष्ठ बनाने का उद्योग करना होगा। जो लोग स्त्रियों की उन्नति के बिना ही हिन्दू-संगठन का सुख-स्वप्न देख रहे हों, वे धोखे में हैं। आज संसार का कोई स्वतन्त्र या अर्द्धस्वतन्त्र राष्ट्र ऐसा नहीं कि जहाँ स्त्रियों की दशा भारतवर्ष जैसी शोचनीय हो। यदि हिन्दू जाति को जीवित रखना है, बलिष्ठ बनाना है, स्वराज्य लेना है तो

अवश्य ही हम स्त्रियों को अपना उपयोगी मित्र बनावें।

आदर्श गृहिणी कैसी हो इस सम्बन्ध में कहा है—

**"कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रंभा।
मनोनुकूला क्षमया धरित्री गुणैश्च भार्या कुलयुद्धरंती॥"**

हमारी देवियों में चाहे और अनेक गुण आज भी विद्यमान हों, निश्चय ही वे "कार्येषु मन्त्री" की उपमा के योग्य नहीं हैं। और इसका सारा दायित्व पुरुषों पर ही ह, जिन्होंने अपने स्वार्थ के लिए स्त्रियों का कर्तव्य केवल "करणेषु दासी" और "शयनेषु रम्भा" तक ही परिमित कर दिया है। परदे के कट्टर भक्त मिस्र और तुर्की में स्त्रियों को उन्नत बनाने की चाह—और हिन्दुओं का लकीर के फकीर होना—यह हिन्दू-संस्कृति पर एक बड़ा धब्बा है जिसे धो डालना प्रत्येक विचारशील मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है।

परन्तु जैसे और सुधारों के सम्बन्ध में वैसे ही स्त्रियों के सुधार में भी हमें विवेक की आवश्यकता है। सुधार का यह अर्थ नहीं है कि हम हर बात में पाश्चात्य-प्रणाली को अपना ध्येय मान बैठें। जो कर्म, जो विचार, जो आचार, जो प्रणाली त्याग और संयम की भावना पर आश्रित हों, वे सभी अच्छे और जो स्वार्थ एवं विषयों की बुनियाद पर अवस्थित हों, वे सभी बुरे।

स्त्रियों के सुधार का यह अर्थ नहीं कि हम उन्हें घूंघट से निकाल कर 'हैट' के नीचे रख दें। परदा यदि विषयों एवं स्वार्थ की बुनियाद पर है, तो भारतीय स्त्रियों का पाश्चात्य सभ्यता में रंग देना भी संयम से कोसों दूर होगा। जहां त्याग और संयम की भावना न हो वहाँ चाहे पूर्वी प्रणाली रक्खें चाहे पश्चिमी—फल दोनों का बुरा है। विलायती अफीम का टिंचर खालो, चाहे देशी अफीम की वट्टी निगल जाओ--दोनों का परिणाम मृत्यु होगा। हमें तो विष छोड़ अमृत पीना है। हमें पेरिस की मेमों की ज़रूरत नहीं, सीता-सावित्री की ज़रूरत है। और सीता-सावित्री बनाने के लिए हमें राम-सत्यवान बनना होगा--संयमी और त्यागी बनना पड़ेगा।

स्त्री-सुधार का प्रसंग छिड़ने पर एक मित्र ने मुझ से पूछा था कि हमारी स्त्रियाँ भी ऐड़ी वाले जूते और अंगरेज़ी कोट पहने तो कौन सी बुराई है? अवश्य ही इसमें कोई बुराई न होगी, यदि हमारा ध्येय भोगों तक ही परिमित हो। किन्तु यदि हमारी शिक्षित देवियों को यह अभीष्ट हो कि वे भारतवर्ष के स्त्री-समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनावें, तो उन्हें अपनी वेश-भूषा आचार-व्यवहार इतना सादा एवं कम-खर्चीला रखना होगा कि जिसमें वे साधारण स्त्री-समाज में सुगमता से प्रवेश पा सकें। देश में इस समय

कोट-हैटधारी 'जेंटिलमैनों' एवं शू-पाउडर लिपस्टिक का प्रयोग करने वाली भारतीय 'मैडमों' और साधारण जन-समाज के बीच एक बड़ा सा अन्तर पड़ गया है। और तो और, शिक्षितों एवं अशिक्षितों के बीच भी ख़ासा अन्तर बढ़ता जाता है—यह स्थिति वांछनीय नहीं है। जिन्हें सेवा करना है, उन्हें दूध में शक्कर की तरह जनता में मिल जाना होगा। और हमारे जेन्टिलमैनी और मैडमी लिबास दूध में शक्कर का नहीं काँजी का काम देंगे। देश में करोड़ों लोग अन्न और वस्त्र के लिए तड़पते हों, ऐसी हालत में हमारा साहबी ठाठ-बाट ग़रीबों की आह का उपहासमात्र होगा।

किन्तु यह विषयान्तर हो गया। परदा सुधार का एक अंग है इस लिए सुधार की थोड़ी विवेचना कर देनी आवश्यक जान पड़ी। प्रस्तुत विषय तो परदे का है और उसमें भी 'कथनी' (कहने) की अपेक्षा 'करनी' (करने) की अधिक आवश्यकता है। शायद बहुत-से भाई-बहनों की दृष्टि से यह लेख गुजरे; किन्तु वर्तमान दशा में कार्य का भार बहनों की अपेक्षा भाइयों पर अधिक है। यदि परदे की जीवन-सीमा को हम शीघ्र समाप्त न कर सके, तो इसका दोष पुरुषों पर ही अधिक होगा। भारतीय देवियों में चाहे जितने ऐब आ गए हों, वे "मनोनुकूला" तो अब भी हैं।

फाल्गुन १ संवत् १९८४.

: ३ :

बिखरे हुए विचारों की एक भरोटी

"परीक्षा के बाद क्या करूँगा" यह प्रश्न हर एक विद्यार्थी के हृदय में हिलोरें मारता रहता है। जब इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं मिलता तब आगे की पढ़ाई शुरू होती है। मैं ऐसे विद्यार्थियों को जानता हूँ जिनको मैट्रिक के बाद धंधा नहीं मिला तो वे आई० ए० में गये और फिर धंधा नहीं मिला तो बी० ए० और उत्तरोत्तर एम० ए० तक चले गये। उसके बाद भी धंधे के अभाव में विदेशों को शिक्षा के लिए ज.ने की सोचते हैं। शिक्षा का यह पहलू अवश्य ही दिलचस्प और करुणामय है; क्योंकि धंधे का अभाव पढ़ने के लिए बाध्य करे, ऐसी विद्या अमिश्रित शुभकरी नहीं हो सकती। सेवा के मनसूबे तो कोई ही

बाँधता होगा; क्योंकि प्रथम तो आधुनिक शिक्षा का वातावरण ही सेवा की तरफ नहीं खींचता और ऊपर से दरिद्रता का बोझ। इसलिए पढ़नेवाले लड़कों के मनसूबे प्रायः आर्थिक क्षेत्र में ही चक्कर लगाते हैं।

पढ़नेवालों में धनिकों के लड़के तो होते ही कम हैं; बाकी के, गरीबी में पलनेवाले दरिद्र विद्यार्थियों के मनसूबे आर्थिक क्षेत्र तक ही परिमित हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। अफसोस केवल इसी बात का है कि आज के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति भीरु है, तर्कानुगामिनी नहीं है। पचास वर्ष के पहले के युवकों और आज के युवकों की मनोवृत्ति में कितना अन्तर है! पचास या सौ वर्ष पहले मारवाड़ से आने वाले अशिक्षित गँवई जनों ने किस अदम्य उत्साह के साथ कठिनाइयों का मुक़ाबिला किया, कैसे अपने कारोबार जमाये और कैसे-कैसे कष्ट सहे, इसकी आज के युवक कल्पना भी नहीं कर सकते। मेरे पितामह बाईस वर्ष की अवस्था में बम्बई में रोज़गार करने के लिए घर से चले तो उन्हें पिलानी से इन्दौर तक ऊँट की सवारी करनी पड़ी और इन्दौर स्टेशन पर रेल में सवार हुए। बम्बई पहुँचकर आठ साल तक धैर्य और परिश्रम के साथ उन्होंने अपना कारोबार जमाया और बाद में पिलानी लौटे। यह कोई इनेगिने उदाहरण नहीं हैं। उस समय के लोगों का यही

हाल था। कम खर्च से रहना, परिश्रम से जीवन बिताना, और लगन की मस्ती—यह पुराना तरीक़ा था। आज के युवकों में वह साहस, वह लगन और कष्ट-सहन करने की वह हिम्मत कहाँ ?

कुछ पढ़नेवाले ता वकालत या डाक्टरी की तरफ़ झुकते हैं, बाकी सौ में निन्यानवे तो नौकरी ढूँढ़ते फिरते हैं। "पढ़े फारसी बेचें तेल, यह देखो कुदरत का खेल।" फारसी पढ़नेवालों की, इस तुकबंदी के साथ उस वक्त के अध्यवसायी नवयुवक दिल्लगी किया करते होंगे। सम्भवतः उस समय के फारसी पढ़नेवाले आज के तेजोहीन शिक्षित युवकों को तरह रहे होंगे; लेकिन उस समय दिल्लगी करने वाले तो मौजूद थे, आज तो वे भी नहीं हैं। पुरानी और नवीन मनोवृत्ति में कितना अंतर ! जहाँ लगन, साहस और आधुनिक शिक्षा का सम्मिश्रण हुआ है वहाँ आर्थिक क्षेत्र में "हेनरी फोर्ड" और सेवा के क्षेत्र में "गाँधी" तथा "नेहरू" पैदा हुए हैं। जहाँ इनका सम्मिश्रण नहीं है वहाँ नौकरी का बाज़ार गर्म है। इस बेकारी की तह में हमारी राजनैतिक असहायता के अलावा विद्यार्थियों का अज्ञान और आलस्य कहीं अधिक मात्रा में है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सारे आर्थिक क्षेत्र

का आधार परस्पर की मेहनत की अदला-बदली है। मेरे पास अन्न है और आपके पास चीनी; मुझे चीनी चाहिए और आपको अन्न। यदि हम पड़ौसी हैं तब तो इन चीज़ों का तबादला स्वयं ही कर लेते हैं और अपनी-अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर लेते हैं; परन्तु यदि अन्न पैदा करनेवाला पंजाब में है और चीनी पैदा करने वाला बिहार में, तब इस परस्पर के तबादले की पूर्ति के लिए बिचौला (Middle-man), वाहक (लॉरी, रेल तथा बैलगाड़ी), आढ़तिया और साहूकार की सृष्टि पैदा होती है। इसी तरह सारे कारोबार इस अदला-बदली के सिद्धान्त पर खड़े हैं। चाहे ये कारोबारी लोग हज्जाम, धोबी, रंगरेज, लुहार हों या वाहक, बीमावाला, बनिया और साहूकार हों; "परस्परं भावयंत: **श्रेयः परमवाप्स्यथ**" (एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ)।

आज चाहे सेवा का हिस्सा ज़मीन में गड़ गया है और अमिश्रित स्वार्थ रह गया है, पर कारोबार की असल पैदाइश सेवा-क्षेत्र से ही है। और जैसे सरकार का काम शासन है—चाहे वह सरकार साम्यवादी हो चाहे फासिस्ट—इसी तरह रोज़गार धंधे की भित्ति भी पारस्परिक मेहनत की अदला-बदली पर है; चाहे वह धर्मभाव से हो चाहे स्वार्थ दृष्टि से। धंधे के भीतर में छिपी हुई इस मेहनत की

अदला-बदली के नियम को जब हम नहीं पहचानते तो अपने आप ही बेरोज़गार हो जाते हैं। जो गरजी दूध का है उसको आप देना चाहते हैं खाँड, ऐसी स्थिति में वह खाँड आपके पास ही रहेगी और आप बेरोज़गार होजायँगे। जहाँ धोबी की चाह है वहाँ नाई को कौन रखे? और यदि मुझे ज़रूरत है ग्वाले की या ड्राइवर की या अच्छे रसोइये की तो मैं क्लर्क का क्या करूँ? आज एक हज़ार ज़रूरतें इस देश में मौजूद हैं, जिन्हे मेहनत द्वारा पूरा किया जा सकता है और फिर भी बेकारी की शिकायत है। देश में, खाने के लिये अन्न, फल, दूध और पहनने के लिये वस्त्र और रहने के लिये मकान—इन सब ही वस्तुओं की कमी है। दूसरी तरफ यह हाल है कि फुर्सत की कमी नहीं। साधन भी मौजूद हैं। फिर भी वस्तुयें क्यों नहीं पैदा की जातीं? आखिर वस्तुयें साधन और मेहनत का ही तो फल हैं। साधन+मेहनत=वस्तु। घर का कूड़ा घर के बाहर पड़ा सड़ता है और खेत में खाद की कमी है। हमारे पास फुर्सत है। यदि हम खेत में खाद डाल दें तो कूड़ा साफ हो जावे और अन्न की पैदावार भी बढ़ जावे। कुछ परिश्रम करने से गाय अधिक दूध दे सकती है और हमारे बच्चों को भोजन भी मिल जाता है। घर का गंदा पानी घर में और गली में सड़न और मच्छर पैदा करता

है। इसी जल से हम फल या तरकारी उत्पन्न करके बच्चों को जीवनीय पदार्थ दे सकते हैं। दूसरी तरफ घर को साफ-सुथरा रखकर हम बीमारियों को कम कर सकते हैं। काम दरवाजे पर पड़ा है और फुर्सत भी है; पर फुर्सत को काम में नहीं लगाते। इस हालत को हम आलस्य और अज्ञान के सिवा किस नाम से पुकारें? यदि पढ़े-लिखे लोग भी आलसी और ज्ञान से कोरे हों, तो विद्या से हम फिर कौन-सी आशा रखें? शहरों में एक दर्जी सवा रुपया रोज कमा सकता है, बढ़ई की तनख्वाह भी अच्छी है, ड्राइवर की भी तनख्वाह ऊँची है, और जूता बनानेवाला भी बेरोजगार नहीं है, फिर भी पढ़े-लिखे लोग बीस रुपये माहवार की नौकरी में अपने आपको क्यों बेच देते हैं? यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि शहर में पच्चीस की भी नौकरी गाँव के दस रुपयों के बराबर है। आखिर आय को रुपयों में न माप कर वस्तुओं में ही तो मापना चाहिए। क्या पढ़े-लिखे लोग जो शहर में पच्चीस रुपयों की नौकरी खोजते हैं, गाँवों में पन्द्रह रुपयों का रोज़गार भी नहीं निकाल सकते?

जो लोग गाँवों को छोड़कर शहरों में रोजगार ढूँढ़ते हैं और शहरों में भी जिस चीज़ की चाह है उसमें न पड़कर अनचाही चीज़ों की बिकवाली निकालते हैं, वे अवश्य

ही आलस्य, अज्ञान और बेकारी की परवरिश करते हैं। रोजगार मेहनत की अदला-बदली का नाम है और यदि आप अपनी मेहनत को बेचना चाहें, चाहे बनिया बनकर और चाहे धोबी या नाई बनकर, तो आपको देखना होगा कि गरज़मन्द किस चीज़ की गरज़ रखता है और यदि आपने यह न देखा तो आपने ख्वाहमख्वाह ही पढ़ा है। पढ़े-लिखे लोगों को चाहिए कि लोगों की आवश्यकताओं का अध्ययन करें और उन्हें पूरा करने में अपनी मेहनत यानी पूँजी (असल पूँजी मेहनत है) को लगाएँ।

सफल जीवन के लिए सच्चाई की हर समय ज़रूरत पड़ेगी। "साँच बराबर तप नहीं" यह कहावत सोलह आना सत्य है। धर्म की दृष्टि से जाने दीजिए, व्यावहारिक दृष्टि से भी सच्चाई से बढ़कर सफल जीवन की और दूसरी चाबी मुझे नज़र नहीं आती। धर्म (Religion) न सही, बतौर नीति (as a policy) भी सच्चाई परमावश्यक गुण है। बेईमानी, जुआ, चोरी इत्यादि भयानक ऐबों से तो दूषित थोड़े ही लोग होते हैं, पर मानसिक कमज़ोरी के कारण झूठेपन का दोष कम-बेश तादाद में हममें से बहुतों में पाया जाता है, जिसका उपयोग हम जीवन के हर क्षेत्र में करके अपने आपका अहित करते हैं। जहाँ "ना" कहना चाहिए वहाँ "ना" कहने की हिम्मत नहीं। सिद्धान्त एक मानते हैं,

पर हमारा आचरण उलटा है। कई लड़के कहते हैं, "हाँ साहब, हमारा सिद्धान्त तो यह है, पर क्या करें, घरवाले नहीं करने देते"। मारवाड़ी में एक कहावत है "एक नन्ना सौ दुःख हरे," अर्थात् एक ना कहने से सौ दुःख टलते हैं। मैं अनेक विद्यार्थियों के सम्पर्क में आया हूँ और मैंने दुःख के साथ देखा है कि विद्यार्थियों में स्पष्ट व्यवहार की काफी कमी है। यह लड़कों का दोष नहीं है। हमारे घरों के वातावरण ही आज साफ शुद्ध नहीं हैं; लड़के जो घर में देखते-सुनते हैं उसीका अनुकरण बाहर किया करते हैं; पर पढ़े-लिखे लोगों की जिम्मेवारी बड़ी है, इसलिए उन्हें घर के वातावरण से प्रभावित होने के बजाय इसे सुधारना चाहिए। मेरा अनुभव है कि धर्म और व्यवहार दोनों के लिए सच्चाई से बढ़ कर कोई अच्छी दवा नहीं है। सच्चाई से व्यापार में सफलता मिलती है, बुद्धि कुशाग्र होती है, आदमी ठगा जाने से बचता है और सैकड़ों आफतों को बिना ही परिश्रम पार कर जाता है।

अनुशासन (Discipline) और दक्षता (Efficiency) का देश में अकाल है, पर यदि विद्यार्थी-लोग भी अनुशासन-हीन (Undisciplined) और दक्षता-रहित (Inefficient) मानवों की एक अव्यवस्थित भीड़ हो जायँ तो ईश्वर ही मालिक है। यूरोप में रेलवे-स्टेशनों या

थियेटरों के टिकिटघरों के पास कभी धक्का-मुक्की नहीं होती। जो पहले आता है वह पहले खड़ा हो जाता है और पीछे आनेवाला पीछे। इस प्रकार कतार लगती जाती है। कभी-कभी तो किसी लोकप्रिय नाटक के अवसर पर तमाशा देखनेवालों की, टिकिटघरों के पास, कतार एक-दो मील लम्बी बन जाती है। क्या मज़ाल कि कोई भी कतार तोड़ने की हिम्मत करे। लन्दन के फुटपाथों पर रविवार को इतनी भीड़ हो जाती है कि जल्दी चलनेवाले लोग कभी-कभी धक्कम-धक्की हो जाते हैं। तो ऐसी हालत में एक-दूसरे को कहता है, "Sorry, it was my fault." दूसरा जवाब देता है,—"Sorry, it was mine."यह कह-कर दोनों मुस्कराते हुए अपनी राह लेते हैं।

यूरोप में यात्रा करते हुए एक बार मेरी गाड़ी किसी दूसरी गाड़ी से टकरा गई। मेरे ड्राइवर ने ब्रेक बाँध कर गाड़ी खड़ी की। दूसरे ने भी ऐसा ही किया। दोनों नीचे उतरे। चुपचाप। अपनी-अपनी गाड़ी का प्रत्येक ने निरी-क्षण किया। फिर एक ने दूसरे से पूछा, "Are you insured?" उत्तर मिला "Yes." फिर प्रश्न, "Any damage." उत्तर "No", "Sorry"। यह बात हो चुकी और दोनों अपने-अपने रास्ते चले गये। न आया क्रोध और न दी एक-दूसरे को गालियाँ। अब ज़रा अपने देश-

वासियों का भी किस्सा सुनिए ! दो गाड़ियाँ भिड़ते-भिड़ते बाल-बाल बच गईं। गाड़ीवानों ने ब्रेक बाँधा और गाड़ियाँ खड़ी कीं। गाड़ियाँ भिड़ी तो थीं ही नहीं, इसलिए नुकसान का तो सवाल ही क्या था; पर हमारे भारतीय वीर इस प्रकार टलनेवाले थोड़े ही थे। श्रीगणेश हुआ गालियों और अपशब्दों से—"क्या आँखें फूट गई थीं," "तेरे बाप नें भी कभी गाड़ी चलाई थी," "मैं तो तेरा बाप जन्मा तब से गाड़ी चलाता हूँ," "उल्लू का पट्ठा, एक साल जेल में कटेगी तब होश आयेगा।" भीड़ जमा हो गई, ट्राफिक रुक गया। पुलिस आई तब दोनों हटे। माघ और कुम्भ के मेलों में तो धक्का-मुक्की की कौन कहे, कई आदमी कुचलकर मर जाते हैं। छोटे-छोटे मेलों पर भी बिना स्वयंसेवकों के हमारा काम नहीं चल सकता। महात्माजी के चरण छूनेवाले भक्त उनके पैर कुचल देते हैं। सभाओं में इतना शोर मच जाता है कि कभी-कभी तो गांधीजी को केवल हाथ जोड़कर ही सभा समाप्त कर देनी पड़ती है। हम आपस में बातें करते हैं तो इतना हल्ला मचाते हैं, मानों दो फर्लांग की दूरी से बातें करते हों।

खाने का यह हाल है कि कोई समय ही नहीं। सारा यूरोप और अमेरिका करीब-करीब एक ही समय पर भोजन कर लेता है। आठ साढ़े आठ बजे सुबह को नाश्ता,

एक-डेढ़ बजे दिन में लंच और रात को सात-साढ़े सात बजे डिनर। हमारी यह दशा है कि कोई दस बजे सुबह को भोजन करता है तो कोई बारह बजे। यहाँ तक कि कई रईसी ठाठ के बाबू लोग एक बजे तक खाने से निवृत्त नहीं होते। बिहार में तो असल रईस वह है जो रात को एक बजे खाना समाप्त करे। इस समय की बेंपाबन्दी से समय की बर्बादी का तो कुछ ठिकाना ही नहीं, और भी अनेक प्रकार की असुविधायें उपस्थित हो जाती हैं। मान लीजिए कि आप रात को साढ़े सात बजे खाना खाते हैं; एक दूसरे सज्जन हैं जो साढ़े आठ बजे खाना खाते हैं। वे बिना किसी खबर के साढ़े सात बजे आपसे मिलने आते हैं। आप खाना खाने बैठ जाते हैं और खाने के बाद ही यदि आपने किसी अन्य सज्जन को मिलने का वक्त दे रखा है तो वह खाना खा चुकनें के बाद भी आपसे नहीं मिल सकते। इसलिए उन्हें बिना मिले ही लौटना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मेहमान को खाने का निमंत्रण तो दिया गया साढ़े सात बजे का और वह पहुँचते हैं साढ़े आठ बजे। तमाम घरवाले घंटे भर तक भूखे बैठे मेहमान साहब की बाट उडीकते हैं और उनकी सात पुश्त तक को कोसते हैं। यूरोप का यह हाल है कि दस मिनिट तक तो मेहमान की बाट देखी जाती है, बाद में घरवाले खाने को

बैठ जाते हैं। मेहमान साहब पहुँचते हैं और लज्जित हो कर माफ़ी माँगते हैं। अनुशासन के बिना सामाजिक और राजनैतिक किसी भी जीवन में सफलता नहीं मिल सकती, यह अबाधित सत्य है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू इसीलिए आजकल चरित्र और अनुशासन पर खूब जोर लगाते हैं। जिसमें अनुशासन और सच्चाई है, उसमें दक्षता स्वतः ही आ जाती है।

अष्टम एडवर्ड को जिस शान्ति और शान के साथ ब्रिटिश जनता ने गद्दी से उठाया वह इस बात का द्योतक है कि ब्रिटिश जनता में कितना जबर्दस्त आत्म-नियन्त्रण (Self-discipline) है। तमाम राजनैतिक दल बात की बात में एक हो गये। यहाँ की फूट की वहाँ की एकता से तुलना कीजिए ! यूरोप के बड़े-बड़े बागों में छोटी-छोटी टोकरियाँ जगह-जगह लगी रहती हैं ताकि किसी को रद्दी चीज़ वा कागज़ फेंकना हो तो उनमें डाल दिया करे। किसी-किसी जगह तो सड़क पर काग़ज फेंक देनेवाले पर पचास पौंड तक जुर्माना कर दिया जाता है। अपने यहाँ कागज़ों की तो बात ही क्या, अपने घरों का सारा कूड़ा-कर्कट भी हम गली में ही फेंक देते हैं। इससे हमें और हमारे पड़ौसी दोनों को ही कष्ट होता है।

व्यवस्था (Orderliness) अनुशासन का ही एक अंग

है। लड़कों को बचपन से ही आदत डालनी चाहिए कि वे हर चीज़ को सुव्यवस्थित रखें। अनुशासन और व्यवस्था से दक्षता आती और बढ़ती है। किसी की दक्षता को परखने के लिए मैं आमतौर से यह देखा करता हूँ कि लड़के ने अपने कोट के बटन बन्द किये हैं या नहीं; नाखून कटवा कर साफ रखता है या नहीं; अँगुलियों पर स्याही के दाग तो नहीं पड़े हैं। कपड़े मैले हैं या उजले। इन छोटी-छोटी बातों से मनुष्य की छिपी हुई बड़ी-बड़ी मनोवृत्तियों का पता सहज में ही लग जाता है।

मनुष्य के अत्यन्त साधारण आचरण से ही पता चल जाता है कि उसमें सच्चाई कहाँ तक है। जो छोटी-छोटी बातों में सच्चाई का प्रयोग नहीं करता; जो अपनी सारी क्रियाओं के सम्बन्ध में अव्यवस्थित है; जिसनें न सोनें-उठने का नियम बना रखा है और न खाने और व्यायाम का; जो भोजन स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं करता, केवल स्वाद के निमित्त करता है, ऐसे मनुष्य के जीवन से बड़ी-बड़ी बातों की आशा नही करनी चाहिए। जो लोग अव्यवस्थित हैं, समय के पाबन्द नहीं हैं, उनके नाम को उच्चाकांक्षाओं के बहीखाते में "बट्टे खाते नावें" लिख देना चाहिए। सफलता ऐसे लोगों के लिए पैदा नहीं हुई जो अव्यस्थित हैं, असंयमी हैं, और बिना चरित्रबलवाले

हैं। आज अंगरेज़ लोग शासक हैं और हम गुलाम हैं, यह घटना सहज और आकस्मिक नहीं है। उनमें नियंत्रण-बल है, उनमें सुव्यवस्था है, उनमें नियम की पाबन्दी है और उनमें चरित्र-बल है।

कुछ विद्यार्थियों नें महात्माजी से सन्देश माँगा था, जो उन्होंने इस प्रकार भेजा था—"Be truthful, have self-restraint and attain loftiness of character." चाहे हम छोटे हों चाहे बड़े, यदि हम सब इसको अविकल-रूपेण धारण कर लें तो फिर किस बात का डर है। बेकारी से डरना भी फिजूल है।

१९३७.

: ४ :

हिन्दी-प्रचार कैसे ?[१]

सम्मेलन के प्रतिनिधियों का इस प्रकार स्वागत करने का सौभाग्य मुझे अपनें जीवन में आज दूसरी बार प्राप्त हुआ है। पहला अवसर मुझे कलकत्ते में आज से प्रायः १४ वर्ष पहले मिला था। इन १४ वर्षों में हिन्दी ने कितनी उन्नति की है यह कहना तो कठिन है; किन्तु इतना तो समझ में आ सकता है कि उन्नति यथेष्ट नहीं हुई। वैसे तो हिन्दी का क्षेत्र बहुत व्यापक है, दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पूर्व में आसाम तक भी लोग हिन्दी में

१. तेईसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, दिल्ली के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से दिया गया भाषण।

बोलचाल कर सकते हैं, किन्तु क्षेत्र की व्यापकता को देखते तो यह कहना होगा कि काम शिथिलता से हुआ है। धन का अभाव है या कार्यकर्त्ताओं का—यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है; किन्तु एक बात स्पष्ट है और वह यह कि हिन्दी को सुगम बनाने के लिए अबतक कोई संतोषजनक प्रयत्न नहीं हुआ।

पं० जवाहरलालजी का यह कहना उपयुक्त-सा है कि हिन्दी एक दरबारे-खास की चीज़ बनती जा रही है। जो चीज़ दरबारे-ख़ास की होगी, उसपर दरबारे-आम वालों को दखल पाना मुश्किल होगा। मैं तो समझता हूँ कि हिन्दी को व्यापक बनाने के लिए हमें भाषा को इतना सरल बनाना होगा कि हर हिन्दुस्तानी उसे अपनी मातृभाषा अर्थात् सचमुच अपनी माँ की भाषा समझ सके। क्या यह बात सही नहीं है कि जिसको आज हम हिन्दी कहते हैं वह अधिकतर अखबारों, पोथियों और पढ़े-लिखे आदमियों तक ही परिमित है ? मैंने तो यह भी देखा है कि हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वान् भी अपने घरों में अपनी प्रान्तीय भाषा में ही बात-चीत करते हैं। महामना पूज्य पंडित मालवीयजी भी अपने घर में अपनी घराऊ बोली ही बोलते हैं। एक बात तो साफ़ है कि एक ही घर में दो ज़बानें नहीं चल सकतीं। यदि यह सम्भव नहीं कि घराऊ बोली मर जाय तो यह

क्यों न किया जाय कि हिन्दी भाषा को ही वह रूप दे दिया जाय। और यह तो तभी हो सकता है, जब कि आज की हिन्दी में हम प्रान्तीय शब्दों को मिलाकर उसे एक हृष्ट-पुष्ट और जानी-पहचानी भाषा बना लें। आप लोगों को पता होगा कि गांधीजी ने गुजराती में 'गँवई' शब्दों को मिलाकर गुजराती साहित्य की काफी सेवा की है। ठीक उसके विपरीत जान पड़ता है कि हिन्दी में गँवई या प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग करना दोष समझा जाता है। मेरी समझ में यदि हम इस दोष को गुण समझ लें तो हिन्दी का विशेष लाभ हो सकता है।

इस समय हिन्दी को ऐसा रूप देने की आवश्यकता है जिससे वह 'हिन्दुस्तानी'--अर्थात् देशमात्र के लोगों की भाषा--बन सके और विभिन्न प्रान्तों के हिन्दू और मुसलमान उसे बोल-चाल या लिखने-पढ़ने के काम में ला सकें। हर प्रकार की कृत्रिमता से हमें अपनी भाषा को बचाना चाहिए--चाहे उस कृत्रिमता का आधार पंडितों की संस्कृति हो चाहे मौलवियों की अरबी या फ़ारसी। भाषा आखिर एक साधन है जिसका उपयोग कर हम किसी कार्य्य-विशेष की सिद्धि करना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में हमें बराबर यह देखते रहना चाहिए कि हमारा साधन या औज़ार कहाँ तक हमारे काम के लायक़ है

और अगर हमारी ज़रूरत बदल गई है तो हमें उसमें कौन-सा हेर-फेर करना चाहिए । हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा का काम दे सकती है इसमें सन्देह नहीं; पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसका रूप आगे के लिए भी वही बना रहे जो आज से सौ वर्ष पहले था या जिस रूप में उसने दिल्ली या आगरे के पास उससे भी बहुत पहले जन्म लिया था । अगर हमें हिन्दी का भंडार भरना है और इस प्रकार इसे सब भाषाओं की चोटी पर पहुँचाना है तो हमें प्रान्तीय भाषाओं से बहुत-कुछ लेना होगा। राष्ट्र-भाषा बननेवाली चीज़ राष्ट्र-मात्र की सम्पत्ति होगी और उसकी परिपुष्टि के लिए यह आवश्यक होगा कि वह राष्ट्र के प्रत्येक अंग से कुछ ग्रहण करने को तैयार रहे। हिन्दी का हित इसीमें है कि उसे इस बात की स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वह अपनें व्यक्तित्व की रक्षा करती हुई गुजराती, मराठी, मारवाड़ी, बंगला, तामिल, तेलुगू आदि सबसे व्यावहारिक और उपयुक्त शब्दों का आदान-प्रदान कर सके। अर्थात् एक तो यह आवश्यक है कि हिन्दी को कृत्रिमता अर्थात् जटिलता की बेड़ी से मुक्त कर देशमात्र की जनता के व्यवहार की भाषा बना दी जाय; दूसरे यह कि विभिन्न प्रान्तों से यह न कहा जाय कि 'यह हमारी हिन्दी है। तुम इसे इसी रूप में ग्रहण कर सकते हो';

बल्कि यह कि 'हिन्दी तुम्हारे लिए भी बड़े काम की चीज़ होगी। इसे लो और इसमें कुछ अपनी ओर से मिला कर अपना काम निकालो'। ऐसी रीति-नीति से ही हम इस देश में हिन्दी का अधिक-से-अधिक प्रचार कर सकेंगे।

इस सिलसिले में मैं दक्षिण भारत में होनेवाले हिन्दी-प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से यह कार्य्य अपना खास महत्त्व रखता है। आज से १५-१६ वर्ष पहले पू० महात्मा गांधी के हाथों इसका श्रीगणेश हुआ था और उनके आशीर्वाद से इस क्षेत्र के कार्य्यकर्ताओं को—जिन में श्री हरिहर शर्मा और एम० सत्यनारायणजी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—वहाँ आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इसीके फलस्वरूप हम आज इस अधिवेशन में, उस प्रान्त के प्रतिनिधियों को भी समुपस्थित पाते हैं। पर दक्षिण भारत में जो कार्य्य हुआ है उसका महत्त्व कुछ-कुछ उन आँकड़ों से जाना जा सकता है जो हमें वहाँ की प्रचार-सभा द्वारा प्राप्त हुए हैं। अभी तक प्रायः ६,००,००० लोग हिन्दी से परिचित हो चुके हैं। इस समय भी वहाँ ४०००० विद्यार्थी हिन्दी का अध्ययन कर रहे हैं। करीब ६०० प्रचारकों द्वारा १२०० केन्द्रों में प्रचार का काम कराया गया है। सभा ने ६५ विभिन्न

पुस्तकों की ७,००,००० प्रतियाँ अपने प्रेस में छपाई हैं और वह 'हिन्दी-प्रचारक' नामक एक मासिक पत्र भी चलाती है। महात्माजी को पिछली बार दक्षिण भारत में जो मान-पत्र दिये गये उनमें लगभग ९० फ़ी सदी हिन्दी में थे। हिन्दी के प्रति उस प्रान्त की देवियों का उत्साह विशेष प्रशंसनीय बताया जाता है और उन्हें आज अपने बीच उपस्थित देखकर हम भी समझ सकते हैं कि उनके उत्साह की जो प्रशंसा सुनने में आई है उसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। दक्षिण भारत से आनेवाले इस हिन्दी-प्रेमी दल का हम लोग हार्दिक अभिनन्दन करते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि उन्होंने उत्तर भारत की भाषा पर ही नहीं, उसके हृदय पर भी अधिकार जमा लिया है। ईश्वर करे, महात्माजी का रोपा हुआ यह वृक्ष सदा हरा-भरा रहे और उत्तर तथा दक्षिण के सम्मेलन में अधिकाधिक सहायक हो।

यह सौभाग्य की बात है कि इस साल हमें सभापति के पद के लिए श्रीमान् बड़ोदा-नरेश मिल गये हैं। बड़ोदा-नरेश की सेवाओं को कौन नहीं जानता। प्राय: सभी क्षेत्रों में देश को आपकी सेवाओं का सौभाग्य मिला है। आपके मनसूबे कितने ऊँचे हैं, लगन कैसी दृढ़ है, परिश्रम करने की शक्ति कितनी प्रबल है, अपने राज्य में कितने सामा-

जिक और राजनैतिक सुधार किये हैं—यह उनसे परिचय रखनेवाले सभी व्यक्ति जानते हैं। उनका हिन्दी का प्रेम तो बहुत पुराना है। अभी हाल में आपने अपनी कचहरियों में नागरी लिपि प्रचलित करने की आज्ञा जारी की है। राज्य के हर अफसर के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य है। ऐसे हिन्दी-हितैषी की हमें संरक्षता मिली यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। ईश्वर करे अन्य राजा-महाराजा भी ऐसे ही उन्नत विचारवाले हों।

: ५ :

जात-पाँत तथा अस्पृश्यता

(राजस्थानियों के नाम एक सन्देश)

जात-पाँत और अस्पृश्यता इन दोनों को राजस्थानियों ने काफी शरण दी है। एक तरह से ये दोनों मुद्दे आपस में ओत-प्रोत हैं। एक का नाश होने पर दूसरे का सहज ही नाश हो जाता है। और यदि ये दो बुराइयाँ हिन्दू-समाज में जीवित रहीं, तो समझ लेना चाहिए कि हिन्दू-समाज का नाश अवश्यम्भावी है। हिन्दू-समाज में से जो हज़ारों आदमी हर रोज़ बाहर निकलते जा रहे हैं यदि उनको एक ही दरवाज़े से कतार बाँधकर बाहर निकाला जाय, तो इस दृश्य को देखने मात्र से ही कट्टर सनातनी की भी छाती दहल जाय। किन्तु चूँकि यह दृश्य आँखों से नहीं, बुद्धि से

जिक और राजनैतिक सुधार किये हैं—यह उनसे परिचय रखनेवाले सभी व्यक्ति जानते हैं। उनका हिन्दी का प्रेम तो बहुत पुराना है। अभी हाल में आपने अपनी कचहरियों में नागरी लिपि प्रचलित करने की आज्ञा जारी की है। राज्य के हर अफसर के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य है। ऐसे हिन्दी-हितैषी की हमें संरक्षता मिली यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। ईश्वर करे अन्य राजा-महाराजा भी ऐसे ही उन्नत विचारवाले हों।

: ५ :

जात-पाँत तथा अस्पृश्यता

(राजस्थानियों के नाम एक सन्देश)

जात-पाँत और अस्पृश्यता इन दोनों को राजस्थानियों ने काफी शरण दी है। एक तरह से ये दोनों मुद्दे आपस में ओत-प्रोत हैं। एक का नाश होने पर दूसरे का सहज ही नाश हो जाता है। और यदि ये दो बुराइयाँ हिन्दू-समाज में जीवित रहीं, तो समझ लेना चाहिए कि हिन्दू-समाज का नाश अवश्यम्भावी है। हिन्दू-समाज में से जो हज़ारों आदमी हर रोज़ बाहर निकलते जा रहे हैं यदि उनको एक ही दरवाज़े से कतार बाँधकर बाहर निकाला जाय, तो इस दृश्य को देखने मात्र से ही कट्टर सनातनी की भी छाती दहल जाय। किन्तु चूँकि यह दृश्य आँखों से नहीं, बुद्धि से

ही देखा जा सकता है, इसलिए सब निश्शंक हुए बैठे हैं। जात-पाँत और अस्पृश्यता बुद्धि के आधार पर नहीं, अज्ञान की भित्ति पर है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया है। हिन्दू धर्म जहाँ एक निर्मल गंगा की धारा है, वहाँ अस्पृश्यता और जात-पाँत, ये दो गन्दे नाले हैं, जो इस पवित्र धारा को दूषित और दुर्गन्धमय बना रहे हैं। गन्दे जल को कौन रोके और शुद्ध करे? परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म खतरे में है। जो इस धर्म की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें इन दोनों बुराइयों से लड़ना चाहिए। राजस्थानियों में जात-पाँत तो है पर अस्पृश्यता इतनी नहीं है, तो भी राजस्थानियों ने इन दोनों रूढ़ियों को आर्थिक और नैतिक पोषण दिया है। यदि हिन्दू धर्म की रक्षा करना है तो राजस्थानियों को चाहिए कि इन रोगों का नाश करें।

: ६ :

सट्टा, फाटका या फ्यूचर मार्केट

आमतौर पर लोगों से पूछा जाने पर कि फाटके के बारे में आपकी क्या राय है, प्रायः यही जवाब मिलेगा कि सट्टा, फाटका एक तरह की बुराई है, जिससे हर एक मनुष्य को बचना चाहिए। फिर भी यह कम लोग जानते हैं कि सट्टा या फाटका बुरा क्यों है, कौन से -कारबार को सट्टा या फाटके के नाम से पुकारना चाहिए, और उसकी उपयोगितायें या बुराइयाँ कौन-कौन-सी हैं। मैं नहीं कह सकता कि फाटका शब्द कैसे प्रचलित हुआ; किन्तु सम्भवतः सट्टा शब्द गुजराती और मारवाड़ी 'साटे' शब्द से बना है, जो शायद हेज (Hedge) का अनुवाद है। मारवाड़ी और गुजराती में 'साटा' शब्द बदले को

कहते हैं। गुजराती में 'साटूं' कहते हैं और मारवाड़ी में 'रोटी साटे रोटी, कै पतली कै मोटी' में 'साटा' शब्द बदले के अर्थ में व्यवहार किया गया है। चूंकि हेज या फ्यूचर मार्केट खास करके एक वस्तु के बदले में उसीसे सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी वस्तु या एक वायदे की वस्तु के बदले में दूसरे वायदे की वस्तु को लेने बेचने ही के लिए स्थापित किया गया था, और चूंकि पहले-पहल इस मार्केट का विकास बम्बई में हुआ मालूम होता है, गुजराती-मारवाड़ियों ने हेज (Hedge) के अनुवाद-स्वरूप 'साटा' शब्द का व्यवहार किया, जिससे सम्भवतः फिर सट्टा बन गया। किन्तु यह मेरी अपनी कल्पना है। जो हो, सट्टा-फाटका किसे कहना चाहिए और इससे क्या बुराइयाँ हैं, यह तो बहुत ही कम लोगों ने सोचा है।

पहले-पहल इसी पर विचार करें कि सट्टा किसे कहना चाहिए। कितने लोग समझते हैं कि जिस वायदे के सौदे में माल की डिलेवरी नहीं होती, केवल रुपयों ही का भुगतान होता है, उसे सट्टा कहना चाहिए। किन्तु कलकत्ता और बम्बई में ऐसे बाजार जिनमें माल का भुगतान नहीं होता बहुत कम हैं। जो थोड़े से हैं उनमें सब लोग काम भी नहीं करते; क्योंकि पुलिस की उनपर निगाह रहती है और इसलिए ऐसे बाजार कानून के खिलाफ हैं।

ऐसे बाजारों को जुवाड़खानों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है, इसलिए ऐसे बाजारों के महत्व को बढ़ा देना अतिशयोक्ति होगी। आमतौर से जिन बाजारों को लोग सट्टा-फाटका कहते हैं, उनमें से अधिक ऐसे ही बाजार हैं, जहाँ वायदे का सौदा होता है और जहां माल का लेन-देन बराबर होता है। तो फिर किसी ऐसे बाजार को, जिसमें माल का लेन-देन होता हो, उसे फाटका या सट्टा क्यों कहना चाहिए ? शायद कोई यह भी कहे कि जिस वस्तु का वायदे का सौदा होता हो, उसे ही फाटके की श्रेणी में रख देना चाहिए; किन्तु यह ठीक नहीं। हमें रोज दूधवाला बंधी से दूध देता है, वायदे पर माल भुगताता है, पर कोई उस दूध बेचनेवाले ग्वाले को फाटकिया कहकर नहीं पुकारता। किसान अपने खेत की फसल महाजन को खेत पकने के पहले भी बेच देता है और वायदे पर माल भुगत जाता है; पर न कोई किसान को न महाजन को सटोरिया कहकर पुकारता है। किसान और ग्वाले का उदाहरण तो अधिक समझ में आ सकता है, इसीलिए सामने रख दिया गया; वर्ना जो बात किसान और ग्वाला नित्य करता है, वही हर माल के पैदा करनेवाले, चालान करनेवाले, आयात-निर्यात करनेवाले व्यापारी रोज़मर्रा करते हैं; किन्तु क्या उन्हें फाटकिया कह सकते

हैं ? मैं यदि १००० गाँठ वायदे की रुई अपनी मिल के लिए खरीदूँ और बदले में १००० गाँठ कपड़े की वायदे की बेच दूँ, तो क्या उसे फाटका कहेंगे ? इसी तरह यदि मैं विदेश को पाट की रफ्तनी करता हूँ और १००० गाँठें विलायत में वायदे की बेचकर यहाँ १००० गाँठ वायदे की बदले में ले लेता हूँ, तो क्या उसे फाटका कहेंगे ? शायद कोई उत्तर दे कि जहाँ १००० गाँठें लीं और बदले में उतनी न बेचकर यदि कम या ज्यादा बेची, और इस तरह से माथे या पोते की जो जोखिम ली, उसे फाटका समझ लेना चाहिए। किन्तु इस बुनियाद पर चलने से जो ग्वाला अपनी गाय के १० सेर रोजाना दूध में से ८ सेर की बंधी बाँध देता है और २ सेर दूध गाय को दुहने के बाद बेचता है, उसे फाटकिया कहना होगा; पर उस ग्वाले को फाटकिया कहना नितान्त हास्यास्पद होगा। चाहे जितने उदाहरण ले लीजिए, किसी भी लेने या बेचने की क्रिया-मात्र को, चाहे वह तैयार माल की हो, चाहे वायदे की, हम फाटका या सट्टा नहीं कह सकते। जिस तरह देश, काल, पात्र भेद से समान कर्म भी कभी अधर्म और कभी धर्म हो सकते हैं, उसी तरह से लेने और बेचने की क्रिया भी देश, काल, पात्र भेद से 'व्यापार' या फाटके के नाम से सम्बोधित की जा सकती है।

यदि एक मिलवाला या माल का आयात-निर्यात करनेवाला माल लेता है या बेचता है तो उसे हम व्यापार ही कह सकते हैं, फाटका नहीं। किन्तु वही क्रिया यदि किसी वकील, डाक्टर, सम्पादक या ऐसे किसी आदमी के द्वारा की जाती है, जिसका उस व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं, तो अवश्य ही वह आपत्तिजनक क्रिया होगी। क्योंकि इससे देश की उत्पादन-शक्ति की तनिक भी वृद्धि नहीं होती, और यह सारी मेहनत—माथापच्ची—बेकार जाती है। ऐसे कार्य को वास्तव में फाटका ही कहना होगा। व्यापार की भलाई एवं स्वयं उस फाटकिये की भलाई के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उस नये रंगरूट को, जिसका व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं, हम फाटका करने से रोकें। तात्पर्य यह हुआ कि जो क्रिया व्यापारी के लिए हितकर है एवं फाटका नहीं है, वही पात्र-भेद से अ-व्यापारी के लिए अहितकर या फाटका है। जिस तरह शिक्षा-प्राप्त डाक्टर या वैद्य को चिकित्सा करने का अधिकार है, उसके लिए और उसके रोगियों के लिए चिकित्सा वांछनीय है, उसी तरह व्यापारियों के लिए वायदे का लेना-बेचना आवश्यक, वांछनीय, हितकर और देश की समृद्धि का साधक एवं नवसिखुओं के लिए ठीक इससे उल्टा है। सारांश यह कि दोष क्रिया का नहीं, किन्तु

पात्र-संसर्ग से है और इसलिए जिसे हम फाटका कहते हैं, वह व्यापारियों के लिए व्यापार और फाटकियों के लिए फाटका है। व्यापार की भलाई के लिए सारे संसार में वायदे की लेवा-बेची का आयोजन है। उसकी उपयोगिता बड़ी भारी है। व्यापार-क्षेत्र में से वायदे के बाज़ारों को उठा देने से व्यापार की हानि है, इसलिए ऐसे बाज़ार रहे हैं और रहेंगे। अ-व्यापारियों की लेवा-बेची से देश की और स्वयं-उनकी भी हानि होती है; किन्तु यह स्वीकार कर लेने के बाद भी ऐसा कोई राजमार्ग नहीं मालूम होता, जिससे अ-व्यापारियों को फाटके में कूद पड़ने से बचाया जा सके। अधिक-से-अधिक उनकी रक्षा के लिए यही हो सकता है कि वायदे के सौदे (१) बड़ी मिकदार में न हों, (२) माल की डिलेवरी के लिए लेवाल-बेचवाल दोनों बाध्य हों, (३) सौदे का लिखित कण्ट्राक्ट हो, (४) सौदे का समय निर्धारित हो और (५) सौदे की व्यवस्था अर्थात् सारा कार्य कानूनी ढंग से होता हो, इसकी व्यवस्था के लिए एक व्यवस्थापक-मण्डल हो।

हम यह भी विचार करें कि वायदे के सौदे से वस्तुओं के भावों पर और देश की समृद्धि पर क्या असर होता है?

यह तो जानी हुई बात है कि वस्तुओं का दाम

उनकी माँग और पैदाइश पर निर्भर करता है। यदि माँग कम हुई और पैदाइश ज्यादा हुई,तो अवश्य ही दाम नीचा रहेगा, किन्तु इसके अतिरिक्त माल बेचनेवाले और खरीदनेवाले की गरज और शक्ति का भी दामों पर बहुत असर होता है। मान लीजिए, मेरे पास एक गाय है और पड़ोसी उसे खरीदना चाहता है। अब चीज की माँग और पैदाइश तो दोनों बराबर हैं, किन्तु मुझे रुपयें को आवश्यकता है, और इसलिए किसी भी तरह अपनी गाय को बेचकर नक़द दाम करना है। पड़ोसी को मेरी गरज का पता लग गया। इसलिए वह गाय खरीदने में टालमटोल करने लग जाता है, तो मुझे बाध्य होकर उस गाय को सस्ते दाम पर बेचना पड़ता है। इसी तरह यदि मुझे पता लग जाय कि पड़ोसी के घर में दूध की शीघ्र आवश्यकता है और उसे जितना जल्दी हो सके गाय खरीदना है, तो मैं एक हद्द तक मुहँमाँगा दाम अपनी गाय के लिए ऐंठ सकता हूँ। तात्पर्य यह कि वस्तु का मूल्य पैदाइश, माँग, गरज़ और वस्तु को रोक रखने की शक्ति पर निर्भर है। इसी तरह यदि पाट की पैदाइश १ करोड़ गाँठों की है और खपत इससे भी अधिक अर्थात् १ करोड़ ५ लाख की है, तो भी यदि माल खानेवाले लोगों को—मिलवालों को, विदेशी

रफ्तनी करनेंवालों को—यह पता है कि किसानों के पास माल रोकने की गुंजायश नहीं है और दूसरा कोई प्रतिद्वन्द्वी बाज़ार में नहीं है, तो स्वभावत: माल खरीदनेवाले लेने में जल्दी न करके किसानों से पाट नीची दर में ऐंठ सकेंगे। अमेरिका प्रभृति देशों में किसान बैंकों से रुपया उधार लेकर माल रोक सकते हैं; किन्तु यहाँ तो किसानों की कौन कहे, व्यापारियों को भी रुपये की कमी है। ऐसी हालत में किसान हर समय विदेशी रफ्तनी करनेवाले या अन्य माल की खपत करनेवाले साहूकारों की दया पर ही जीता है। उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट समझ में आ जायगा कि जहाँ केवल पैदाइश करनेवाले और केवल खपत करनेवाले ही आपस में लेवा-बेची करते हैं, वहाँ कमज़ोर की हार और ताक़तवर की जीत होती है। मौजूदा हालत में माल की पैदाइश करनेवाले कमज़ोर हैं, खपत करनेवाले ताकतवर एवं संगठित हैं, केवल तैयारी के बाजार में जीत खपत करनेवाले की ही होती है। किन्तु जहाँ किसी चीज का वायदे का सौदा शुरू होता है, बाज़ार में लेने और बेचनेवाले कुछ नये-नये व्यक्ति और आ कूदते हैं और इसलिए जिस वस्तु का वायदे का सौदा होता है, उसके दाम की घटा-बढ़ी के कारणों में प्रथम कहे गये कारणों के अलावा फाटकियों

की मनोवृत्ति भी एक नया कारण बन जाती है। किन्तु इसमें भी एक सीमा होती है। कोई फाटकिया अपनी शक्ति के कारण बाज़ार को हद से ज्यादा नहीं घटा सकता, किन्तु प्रचुर धन पास में हो, तो हरएक फाटकिया किसी भी चीज का दाम बेहद ऊँचा कर सकता है। फाटकिये में असल में माल को रोकने की शक्ति तो होती है; किन्तु माल की पैदाइश फाटकिये की शक्ति के बाहर है। इसके अतिरिक्त वायदे के सौदे में रुपया उधार देनेवाले साहूकार भी पहुँच जाते हैं। जो साहूकार किसान को रुपया देने में नहीं हिचकता है, वही किसी एक प्रतिष्ठित व्यापारी को रुपया देने में नहीं हिचकता। इसका फल यह भी होता है कि लोग तैयार माल खरीदकर वायदा बाज़ार में ऊँचे में बेचकर (hedge) कर लेते हैं और इस प्रकार रुपये का सूद उपजा लेते हैं। उपरोक्त हेतुओं के कारण माल रोक रखने की शक्ति का तैयारी बाज़ार में जो अभाव रहता है, वह वायदा बाज़ार में मिट जाता है। प्रत्यक्ष में देखने से भी यह पता लगता है कि जहाँ केवल तैयारी का काम होता है, वहाँ वस्तुओं की दर शक्तिमान खरीददार की मर्जी पर रहती है। वायदे के बाज़ार में केवल खरीददारों को ही यह सुभीता नहीं रहता; किन्तु कभी-कभी तो चीजों के दाम में अनाप-शनाप तेजी भी हो जाती है।

मैं समझता हूँ कि अब पाठकों की समझ में भली-भांति आ जायेगा कि किस वस्तु का वायदे का बाजार वांछनीय और लाभ-प्रद है और किसका हानिप्रद। जिस माल की हम पैदाइश करते हैं, उसका यदि वायदे का बाजार न हो, तो नतीजा यही होगा कि भिड़ंत केवल पैदाइश करनेवाले और माल खानेवालों के बीच में रहेगी और माल के खानेवाले जोरावर और पैदाइश करने वाले कमजोर हैं, यह बताने की आवश्यकता नहीं। ऐसी हालत में जिस चीज़ की हम पैदाइश करते हैं, उसका वायदे का बाजार होना अति आवश्यक है। मैं ऊपर बता चुका हूँ कि वायदे के बाजार में किस तरह 'हेज' करनेवाले पहुँच जाते हैं और किस तरह माल खपत करनेवाले की, कम दाम में वस्तु ऐंठने की नीति को विफल कर देते हैं। किन्तु उदाहरण देने से बात ज्यादा सुगमता से समझ में आयेगी। मान लीजिए, मिलवालों को पाट या रुई लेनी है। किन्तु किसानों की कमज़ोरी का लाभ उठाने की नीयत से वे माल की खरीदी बंद कर देते हैं। दाम गिरना चाहता है। जहाँ वायदे का बाजार न हो, किसान और मिल-वालों के बीच का व्यापारी जबतक मिलवाला खरीदीं शुरू नहीं करता, किसान से माल नहीं खरीदेगा। किन्तु जहाँ वायदे का बाजार हो वहाँ 'बीच' का व्यापारी मिल-

वाला लेवाल न भी हो तो, किसान से खरीदकर वायदे में बेचकर 'हेज' कर लेता है और इस तरह बाज़ार को गिरने से रोक देता है। जब मिलवाला लेवाल हो, तब वह खरीदे हुए माल को बेचकर वायदे में वापिस लेकर अपना 'हेज' सुलझा लेता है। वायदे का बाजार पैदाइश करनेवाले का किस तरह हित करता है, यह उपरोक्त उदाहरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह जिस माल की हम पैदाइश करते हैं, उसका वायदे का बाज़ार होना इस देश के लिए लाभप्रद है, उसी तरह जिस चीज़ की हम खपत करते हैं, उसके वायदे का बाज़ार हमारे हित के विरुद्ध में है। इस सिद्धांत से पाट और हैसियन का बाज़ार निर्विवाद हमारे हित में है। रुई हम आधी खाते हैं और आधी रफ्तनी करते हैं, इसलिए आंशिक हित और आंशिक अहित है। गल्ला भी रुई को श्रेणी में आता है। कपड़ा और चीनी हम बाहर से मँगाते हैं, इसलिए उनका वायदे का सौदा किसी भी हालत में हमारे लिए लाभप्रद नहीं है।

सारे लेख का निचोड़ यह निकाला कि--

(१) फाटका किसी भी क्रिया-विशेष का नाम नहीं है; किन्तु क्रिया और क्रिया करनेवाले की परिस्थिति, दोनों के विचार से यह निर्णय होता है कि फाटका

किसे कहना चाहिए।

(२) कोरा फाटका इसलिए बुरा है कि फाटकिया देश की उत्पादक शक्ति को सीधा प्रोत्साहन नहीं देता।

(३) किन्तु कोई ऐसा राजमार्ग नहीं, जो वायदे के बाज़ारों को कायम रखते हुए उनमें से फाटकियों को बिलकुल निकाल दे।

(४) वायदे के बाज़ार चीजों का दाम ऊँचा करते हैं।

(५) इसलिए जिन वस्तुओं की हम पैदाइश करते हैं, उनका वायदे का बाज़ार हमारे लिए हितकर और जिनकी हम खपत करते हैं उनके वायदे के बाज़ार हमारे लिए अहितकर हैं।

नवम्बर १९२८.

: ७ :

"पानी में भी मीन पियासी"

जैसा कि इस लेख के नाम से विदित है, वर्तमान आर्थिक संकट अनजान लोगों के लिए एक अजीब पहेली है। इसके पहले भी आर्थिक संकट आते थे; किन्तु उनका जन्म किसी प्रकार के दैवी या मानुषी प्रकोप, महामारी, अग्निप्रलय, जलप्रलय, अनावृष्टि, भूकम्प, राजविप्लव ऐसे-ऐसे कारणों से होता था। कारण मिट जाने पर स्थिति सुधर जाती थी। उस समय रेल, तार न होने के कारण दुनिया आज की तरह छोटी न थी; स्थानीय कष्ट अपनी सीमा के भीतर ही कष्ट-प्रद होते थे। किन्तु आज के आर्थिक संकट का ढंग कुछ अनोखा है। न महामारी है, न प्लेग है, न राजविप्लव है, न अनावृष्टि या

अतिवृष्टि है, न अग्निप्रलय है, भूकम्प तो अभी हाल में ही हुआ है, फिर भी चारों ओर से तबाही की आवाज़ आती है। खेत धान्य से भरे हुए हैं, किन्तु पेट ख़ाली है। माल बेचने वाले लालायित हैं, गोदाम ठसाठस भरे हुए हैं, उधर लेनेवाले चीज़ों के लिए तरस रहे हैं। चीजें सस्ती हैं, किन्तु गाँठ में दाम नहीं। सामने हलवे से भरी थाली रखी है और पेट में भूख है; परन्तु हाथ बँधे हैं और होंठ सी दिये गये हैं। ऐसी ही आज की हालत है। पुराने जमाने में जब फ़सल की बहुतायत होती थी और दाम मन्दे होते थे तब उसे लोग सुकाल कहते थे। आज भी चीज़ों की बहुतायत है, दाम भी मन्दे हैं, तो भी सुकाल नहीं, दुकाल है। अमेरिका में "चीजें कम पैदा करो" इसकी धूम है। यहाँ भी "पाट कम बोओ" "गेहूँ कम बोओ" ऐसी सलाह देनेवालों की कमी नहीं। जहाँ सुभिक्ष की चाह थी, वहाँ दुर्भिक्ष में मुक्ति सूझती है। कल-कारख़ानेवालों ने तो पैदाइश कम करके अपनी स्थिति सुधार ली है। उदाहरणार्थ, चाय और चटकलवालों नें ऐसा किया है और कोयलेवाले करनें की तैयारी में हैं। किसानों में इतना एका नहीं कि इस तरह बन्धेज के साथ पैदाइश घटा लें, तो भी वे कुछ इसी तरह की फ़िक्र में हैं। क्या अजब ज़माना है! जहाँ बहुतायत के लिए लोग

तड़पते थे, वहाँ बहुतायत के मारे लोग परेशान हैं।

यह क्यों ? इसी का यहाँ विवेचन करना है।

आगे बढ़ने से पहले हम सिक्के की करामात को कुछ समझ लें। जब हम कहते हैं कि वस्तुओं के दाम गिर गये या चढ़ गये हैं तब हमारा मतलब यह होता है कि वस्तुओं को अमुक माप या तोल के लिए हमको कम या अधिक परिमाण में सिक्के देने पड़ते हैं। मतलब यह है कि चीज़ों के दाम की माप का एक-मात्र साधन इस समय सिक्का है। इसलिए यदि सिक्के के रहस्य को न समझा तो तेज़ी-मन्दी का खेल समझना आसान नहीं। और यह कोई जटिल प्रश्न भी नहीं है। झूठ-मूठ लोगों ने इसे जटिल विषय मान लिया है। अच्छा, सिक्के के बारे में एक भ्रांत धारणा तो यह है कि सिक्के के दाम स्थिर हैं। उदाहरण के लिए लोग समझते हैं कि एक रुपये के १६ आनें और ६४ पैसे बँधे हैं, इसलिए इसके दाम स्थिर हैं। किन्तु यह एक बड़ी भारी ग़लत-फ़हमी है। यदि हम यह कहें कि आध सेर पानी की क़ीमत आध सेर जल है तो इससे यह साबित नहीं होता कि पानी की क़ीमत स्थिर है। पानी की क़ीमत मापने में आप पानी को ही मापदंड नहीं बना सकते। तो फिर सिक्के की क़ीमत मापने में उसी के अंग १६ आने या चौंसठ पैसे को क्यों मापदंड

माना जाय ? जैसे हम चीज़ों की क़ीमत की माप सिक्के से करते हैं, वैसे ही सिक्के की क़ीमत की माप वस्तुओं से ही हो सकती है। और जब हम सिक्के को वस्तुओं से मापेंगे तब पता चलेगा कि सिक्के की दर वस्तुओं से कहीं अधिक अस्थिर है। मान लीजिए कि हम एक ऐसे मुल्क में पहुँच गये हैं जहाँ सोना चारों तरफ़ मिट्टी की तरह पड़ा हो और अन्न की काफ़ी तंगी हो तो यह कहा जायगा कि वहाँ अन्न खूब महँगा है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सोना वहाँ काफ़ी सस्ता है। अलास्का वग़ैरह में जब नई-नई सोने की खान निकली थी, यही हाल था। मिट्टी में मिला हुआ सोना तो चारों तरफ़ नजर आता था पर खाने-पीने की चीज़ों की इतनी तंगी थी कि एक पैसे की चीज़ एक रुपया तक बिकती थी। सिक्के की भी वहाँ कमी थी, अक्सर लोग दाम चुकाने में सोने की मिट्टी का प्रयोग किया करते थे। वहाँ यह कहा जा सकता था कि चीज़ें बहुत महँगी थीं। यह भी कहा जा सकता था कि सोना बहुत सस्ता था। दोनों के माने एक ही हुए। इसी तरह आज की मंदी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि चीज़ें बहुत सस्ती हैं। और दूसरे शब्दों में इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि सिक्का बहुत महँगा है। सिक्का इस समय सोने का प्रतिनिधि

है, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि सोना बहुत महँगा है। राम कहो या रहीम कहो, जैसे ये दोनों शब्द एक ही करतार के द्योतक हैं, इसी तरह चीज़ों का दाम मन्दा है यह कहो चाहे सिक्का महँगा है यह कहो, दोनों वाक्य एक ही स्थिति के द्योतक हैं। इतना कहने पर यह समझ में आ जायगा कि सिक्के की महँगी के कारण यह मन्दी है और सिक्का सस्ता होने से चीज़ों के दाम बढ़ेंगे।

चीजों की पैदाइश कम करने से भी महँगी आती है। पैदाइश कम करने से जैसे "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी", वैसे न रहेंगी चीजें, न होगी सिक्के की माँग। इस हिसाब से सिक्के की कमी होते हुए भी अपेक्षाकृत बहुतायत हो जाती है और चीज़ों की महँगी आ जाती है; किन्तु जो महँगी कम पैदाइश से होती है वह आमवात रोग का मोटापन है और जो महँगापन उपज की वृद्धि के साथ-साथ सिक्कों की बहुतायत से होता है वह स्वास्थ्यकर वृद्धि है। १९०० से १९२० तक चीज़ों की उपज बढ़ी, दाम भी बढ़े, क्योंकि सिक्कों की तंगी न थी। उन वर्षों में नई-नई सोने की खानें खोज निकाली गईं और इसलिए सोने या उसके प्रतिनिधि सिक्कों की कमी न होने पाई। १९२० से १९२९ तक चीजों की पैदाइश बढ़ी, दाम घटे,

क्योंकि पैदाइश के हिसाब से सिक्कों का चलन नहीं बढ़ा। सोने की कोई नई खान नहीं निकली इसलिए सोने की उपज न बढ़ी और इसलिए सिक्कों की तंगी १९२९ के बाद महसूस होने लगी। फलस्वरूप दाम गिरने शुरू हुए। मंदीवाड़े में चीज़ों की उपज घटनी स्वाभाविक थी। दाम भी घटे और उपज भी घटी। यह डबल मार हुई।

एक यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है। माना कि सिक्का दामों को मापता है और सिक्के की महँगी के कारण वर्तमान समय में इतनी मंदी है, सिक्के की बहुतायत होने से तेज़ी भी आ सकती है; पर क्या कोई और तरीका इस अर्थ-संकट में से निकलने का नहीं, क्या सिक्के की अवहेलना करके हम इस पाश में से नहीं निकल सकते? हाँ, यदि सिक्के की अवहेलना करें तो। किन्तु जबतक क़ानून हमपर सिक्के का साम्राज्य लादता है, तबतक हम इसकी अवहेलना नहीं कर सकते। आज सिक्का क़ानूनन हमारे जीवन की हर हरकत में गुँथा हुआ है। सिक्के का मौजूदा कार्यक्षेत्र यह है—

(१) सिक्का खरीद का साधन है। (आज हम चीज़ों का दाम चीजों में नहीं चुका सकते, किन्तु सिक्के में चुकाना पड़ता है।)

(२) सिक्का दामों को मापता है (जैसा कि ऊपर

बताया जा चुका है।)

(३) सिक्का धन की खान है। (संग्रह करके रखने में या साहूकार के पास जमा रखने से।)

(४) सिक्का कर चुकाने का ज़रिया है। (क़र्ज़ सिक्के में लेते हैं। अदा करने की ज़िम्मेदारी सिक्के में है। कर सिक्के में बँधा है। जिन्स में क़र्ज़ निश्चित हो और कर भी जिन्स में चुकाया जा सके तो सिक्के की शरण न लेनी पड़े।)

प्राचीन समय में इसका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था। उस ज़माने में नौकरों की नौकरी जिन्स में चुकाई जाती थी और जिन्सों का दाम जिन्सों में चुकाया जाता था। उधार का लेन-देन भी जिन्सों में काफ़ी हो जाता था और ज़मीन की मालगुजारी जिन्सों में चुकाई जाती थी। सिक्का विशेषतया धन की खान ही था, इसलिए उसका कार्य-क्षेत्र संकुचित था। पर अब वह बात नहीं रही। आपके पास लाखों मन ग़ल्ला मौजूद हो; किन्तु जबतक उस ग़ल्ले को सिक्के में नहीं बदलवा लेते तब तक न तो आप मालगुज़ारी अदा कर सकते हैं, न नौकरों की तनख्वाह चुका सकते हैं, न कपड़ा खरीद सकते हैं और न अपना कर्ज़ ही अदा कर सकते हैं। यदि किसान की मालगुज़ारी सिक्कों में बँधी न होकर खेती की उपज में

बँधी होती तो आज उसे कोई कष्ट न होता। किन्तु वैसा नहीं है। आधुनिक सभ्यता ने हमपर सिक्के का साम्राज्य स्थापित कर दिया है। इस कारण हर चीज़ को दूसरी चीज़ से बदलने के लिए हमें पहले सिक्के की शरण लेनी पड़ती है। हमारे पास ग़ल्ला है और हमें दूसरी चीज़ खरीदनी है तो यह जरूरी हो जाता है कि हम ग़ल्ला बेचकर पहले सिक्का खरीदें, उसके बाद सिक्का बेचकर दूसरी चीज़ ख़रीदें। अगर क़र्ज़, वेतन या मालगुज़ारी चुकाना है तो हमें अपनी जिन्स को पहले सिक्के में तबदील कर लेना होगा। इस परिस्थिति ने सिक्के का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया है। इसके लिए अत्यधिक परिमाण में सिक्कों का चलन आवश्यक हो जाता है। और इतना विस्तृत कार्य-क्षेत्र होते हुए यदि सिक्के का चलन पूरी तादाद में न हो तो उसका नतीजा यही होगा कि सिक्का महँगा होगा और जिन्सों के दाम गिरेंगे। यों समझिए कि यदि काशी के तमाम आदमियों पर यह क़ैद लगा दी जावे कि जितनी बेर वे खाना खावें या पानी पीवें उतनी ही बेर विश्वनाथजी का दर्शन किया करें तो उसका नतीजा यही होगा कि विश्वनाथ बाबा के दर्शन के लिए बड़ी दौड़ा-दौड़ होगी। या तो ऐसी हालत में हमें विश्वनाथ को किसी ऐसी ऊंची जगह बैठाना होगा जहाँ

से बिना कष्ट और विशेष प्रयत्न के सभी को दर्शन सुलभ हों और यदि हम उन्हें आज की तंग गलियों में ही रखेंगे तो नतीजा यह होगा कि हर शख्स मुश्किल से भी रोज दर्शन न कर सकेगा। और उसके अर्थ यही होंगे कि बहुतों को भूखा और प्यासा रहना पड़ेगा। सिक्के की आज की हालत से यह उपमा बहुत मिलती-जुलती है। हमारे आर्थिक जीवन में हर क़दम पर हमें सिक्के की ज़रूरत पड़ती है और इसके कार्य-क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए चलने में इसकी तादाद कम है, इसलिए यह महँगा हो गया है और चीज़ों के दाम गिर गये हैं। हमारा कर्ज़, कर, मालगुज़ारी, सब सिक्के में बँधे हुए हैं, इसलिए ध्रुव की तरह वह अपने स्थान पर अटल है। हमारी आमद कम हुई, देना वही रहा, अर्थसंकट अवश्यंभावी हो गया।

यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक सिक्के का सोने से सम्बन्ध है, इसको सस्ता करना भी आसान काम नहीं। सोना एक परिमित तादाद में पैदा होता है। अन्य चीज़ों की उपज जिस तरह से बढ़ी उसी रफ्तार से सोने की उपज नहीं बढ़ी। नतीजा यह हुआ कि लोगों को जब सिक्के की अधिक आवश्यकता पड़ी तब सोना इतने सिक्के नहीं दे सका; परिणाम यह हुआ कि सोना महँगा

हो गया और चीज़ें मंदी हो गईं, हालाँकि जैसे-जैसे सिक्के का कार्य-क्षेत्र बढ़ा, वैसे-वैसे उसकी तादाद बढ़ाने की कोशिश भी की गई। जहाँ सिक्का ख़ुद नहीं पहुँच सका वहाँ सिक्के के प्रतिनिधि नोट इत्यादि पहुँचे, परन्तु अन्त में प्रतिनिधियों को भी सीमाबद्ध ही रखना पड़ता है। यदि एक सिक्के के बेहद प्रतिनिधि बन जायँ तो स्वभावतया सिक्के की वक़त घटेगी। इसलिए प्रतिनिधियों को भी सीमाबद्ध रखना आवश्यक हो जाता है। जहाँ सीमा का उल्लंघन किया कि सिक्के की क़ीमत घटी और उसकी क़ीमत के घटने अर्थात् दाम के गिरने से चीज़ों के दाम अपने आप बढ़ते हैं। लड़ाई में जब सिक्के की कमी महसूस होने लगी तब तो अमेरिका को छोड़कर अन्यान्य सभी राष्ट्रों ने सिक्के के प्रतिनिधि परिमाण से अधिक पैदा कर दिये (Inflation)। नतीजा यह हुआ कि सिक्के की इज्ज़त घट गई और सोने से उसका साथ छूट गया (off the gold standard) और चीज़ों के दाम बुरी तरह से चढ़ गये। लड़ाई के बाद सब राष्ट्रों ने सिक्के को फिर सोने के साथ बाँध कर (Reversion to the gold standard) प्रतिनिधियों को सीमाबद्ध करना शुरू किया Deflation)। और जब चीज़ों की उपज बढ़ने लगी और सिक्के की माँग बढ़ी और सिक्का या उसके प्रतिनिधि सब

जगह नहीं पहुँच पाये तब चीज़ों का दाम गिरना शुरू हुआ। सन् १९१४ में यदि हम दामों को १०० सौ की संख्या में मान लें तो इस हिसाब से भिन्न-भिन्न देशों में घटत-बढ़त कैसी हुई होगी उसका ब्योरा इस प्रकार होगा—

	१९१४	१९२०	१९३३
इंग्लैण्ड	१००	२९५	९४
अमेरिका	१००	१९७	९४
भारतवर्ष	१००	२०२	८७

अब साफ़ समझ में आ जायगा कि दाम कैसे गिरे और क्यों गिरे। अब यह भी समझ में आ जायगा कि यह आर्थिक संकट क्यों हुआ। यदि दामों के गिरने के साथ-साथ मालगुज़ारी, कर, कर्ज़, ब्याज, तनख्वाह जैसी देन-दारियाँ—जिनका देना सिक्के के रूप में निश्चित है—किसी क़ानून द्वारा घटा दी जा सकतीं तो यह आर्थिक संकट कभी न होता। अगर किसान को अपनी पैदावार की क़ीमत सिक्के में कम मिलती तो साथ ही मालगुज़ारी, कर्ज़ और सूद भी कम देना पड़ता। किन्तु मालगुज़ारी, कर्ज़, सूद और तनख्वाह वग़ैरह सिक्कों में बँधे हुए हैं, इसीलिए एक ही तादाद में चुकाने पड़ते हैं। उधर जिन्सों की कीमत सिक्कों में कम हो गई और तलपट में घाटा पड़ना अनिवार्य हो गया, और जबतक तलपट के दोनों पासों में

फिर समानता स्थापित न की जायगी, यह आर्थिक संकट जारी ही रहेगा। जो लोग हुंडी की दर गिराना चाहते हैं, सिक्कों को सस्ता करना चाहते हैं, उनकी यही मंशा है।

अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान वग़ैरह मुल्कों नें इन वर्षों में सिक्के का सोने से सम्बन्ध-विच्छेद करके उसकी इज्ज़त और क़ीमत इसीलिए गिराई है कि चीज़ों के दाम चढ़ें। कुछ दाम चढ़े भी हैं, परन्तु बहुत नहीं। बात यह है कि जबतक सिक्के के दाम इतने न गिराये जायँगे कि आवश्यकता के अनुसार सबको उसका मिलना सुलभ हो जाय, दामों का चढ़ना असम्भव है। जो लोग हुंडी की दर को १८ पेंस से १६ पेंस करना चाहते हैं उनसे मैं सहमत नहीं। मेरा अपना ख़याल है कि हुंडी की दर इतनी ज्यादा गिरा दी जानी चाहिए और तबतक गिराते चले जाना चाहिए जबतक दाम सन् १९२६ के दामों की सतह पर न आ जायें।

संक्षेप में इस पहेली का उत्तर यह है—

(१) सिक्का दामों की माप का एक-मात्र साधन है।
(२) चीज़ों की उपज बढ़ी, परन्तु उस हिसाब से सोने या उसके प्रतिनिधियों का चलन नहीं बढ़ा।
(३) इसके कारण सिक्के की तंगी हुई।
(४) फलस्वरूप दाम गिरे।

(५) किन्तु कर, कर्ज़, मज़दूरी और सिक्के में निश्चित देनदारी में कोई कमी नहीं हुई।

(६) नतीजा यह हुआ कि पैदाइश करनेवाले लोगों और कर्ज़दारों की, किसानों की और कलवालों की हानि हुई। चीज़ ख़रीदनेवालों और पावनेदारों को, साहूकार, सरकार, नौकरीपेशा, ज़मींदार (यदि मालगुज़ारी पूरी आती हो तो) बैंक, बीमा कम्पनी को लाभ हुआ।

क्षतिग्रस्त लोग ही अधिक संख्या के हैं; इसीलिए मौजूदा हालत को 'पानी में भी मीन पियासी' कहना उपयुक्त है।

अब इस मर्ज़ की दवा क्या है? दवा तो है; पर सत्ता नहीं है। बिना सत्ता के दवा खाने को हम किसे बाध्य करें? तलपट के दोनों पासों में समानता स्थापित हो, यही उद्देश होना चाहिए। एक तरीक़ा यह है कि हम कर्ज़, मालगुज़ारी, वेतन, ब्याज को उतने ही परिमाण में क़ानूनन कम कर दें जितने कि दाम गिरे हैं। दूसरा तरीक़ा यह है कि हम दाम उतने ऊँचे कर दें जितने कि १९२६ के क़रीब थे। दूसरा ज्यादा व्यावहारिक है। पर दाम कैसे चढ़े? सिक्का सस्ता होनें से। सिक्का कैसे सस्ता हो? यह विचारणीय प्रश्न है।

सिक्का सस्ता करने का एक तरीका तो यह है कि हम इसके सोने के प्रतिनिधित्व को कम कर दें। जिस समय हमारा सिक्का सोने से बँधा था (२० सितम्बर सन् १९३१ के पहले) उस समय हमारा एक रुपया ८.४७ ग्रेन सोने का प्रतिनिधि था। १ शि० ६ पें० के विलायती सिक्के भी उतने ही ग्रेन सोने के प्रतिनिधि थे। इसी से यह कहा जाता था कि हमारे रुपये को १ शि० ६ पें० की हुंडी से बाँध रखा है। सितम्बर सन् ३१ में जब इंग्लैण्ड के सिक्के ने सोने का साथ छोड़ा तब हमारे रुपये ने भी सोने से तो सम्बन्ध भंग कर लिया, मगर सोने को छोड़कर भी उसे स्वतन्त्रता न मिली। सरकार ने जबरन् उसका नाता स्टर्लिंग से अर्थात् अंगरेज़ी सिक्के से जोड़ दिया। इस समय हमारा रुपया १ शि० ६ पें० अंगरेजी सिक्के का प्रतिनिधि है। अब यदि रुपये को सस्ता बनाना हो तो क्या करना होगा ?

एक तो यह तरीक़ा हो सकता है कि जहाँ पहले हमारे सिक्के की क़ीमत ८.४७ ग्रेन सोना था, वहाँ अब उसका प्रतिनिधित्व घटाकर हम उसकी क़ीमत केवल ४.२३ ग्रेन सोना ही रख दें। उसका नतीजा यह होगा कि सिक्के की बहुतायत होगी, इसकी क़ीमत स्वभावतः पहले से सस्ती होगी और चीज़ों के दाम चढ़ेंगे। कितने चढ़ेंगे यह

कोई नहीं बता सकता। इसलिए यह दवा पूरी कारगर होगी, इसका कोई निश्चय नहीं। और यह भी कहा जा सकता है कि दाम चढ़के फिर तो नहीं गिर जायँगे। इसका भी कोई निश्चय नहीं। सोने की नई-नई खानें तो निकलती ही नहीं। चीज़ों की उपज बढ़ने पर यदि यह सस्ता किया हुआ सिक्का भी सब जगह न पहुँच सके तो फिर दाम गिरने लगेंगे। इसलिए रामबाण औषध तो यह होगी कि सिक्के का सदा के लिए सोने से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जावे। सोना खाया जा सकता नहीं (हाँ, वैद्य और हकीम कभी-कभी औषध के रूप में इसे खिलाते हैं, पर इसके ऊपर भी घी-मक्खन की ज़रूरत पड़ती है), पिया जा सकता नहीं, पहना जा सकता नहीं। खूबसूरती में भी यह ऐसी कौन-सी लाजवाब चीज़ है? फिर सिक्का सोने का ही प्रतिनिधि क्यों हो? सिक्का आटा, दाल, गेहूँ, कपड़ा, मक्खन, तेल, नमक, शक्कर का और विशेषकर कायिक परिश्रम का ही प्रतिनिधि क्यों न हो? सिक्के की क़ीमत मापने के लिए जहाँ हम सोने का उपयोग करते हैं, वहाँ हम जिन्सों का उपयोग क्यों न करें? इसके बजाय कि रुपया इतने ग्रेन सोने का प्रतिनिधि हो, यह इतने सेर गेहूँ, इतने छटांक घी, शक्कर या अन्य वस्तु का ही प्रतिनिधि क्यों न हो जाय? सोने की खानें सिक्के के चलन के लिए अपर्याप्त

हो सकती हैं, किन्तु जिन्सों की कमी नहीं हो सकती। जबतक मनुष्य रहेंगे तबतक खेत रहेंगे और अन्य तरह की अनेक चीज़ों की पैदाइश रहेगी। इसलिए सिक्के का मुवक्किल सोना न होकर जिन्स हो, तभी सिक्का सदा के लिए बहुतायत से चलन में रह सकता है। तभी सिक्का सुलभ हो सकता है, तभी चीज़ों के दाम स्थिर और तलपट के दोनों पासे समान रह सकते हैं। अनुचित मंदी और तेज़ी की रुकावट भी तभी रह सकती है, जब सिक्का सोने का प्रतिनिधि न होकर जिन्सों का प्रतिनिधि हो।

संक्षेप में सिक्का सोने से नाता तोड़कर यदि जिन्सों का प्रतिनिधि हो तो—

(१) सिक्के की बहुतायत होगी।

(२) फल-स्वरूप चीज़ों की अधिक मंदी या तेजी सदा के लिए नेस्तनाबूद हो जायगी।

(३) समाज के तलपट के दोनों पासों में एक हद तक समानता होगी।

(४) इस अर्थ-संकट का एक हद तक नाश होगा। एक हद तक मैंने इसलिए कहा है कि और भी कई कारण अर्थ-संकट के हैं, जिनके मिटने पर ही अर्थ-संकट का पूरा खातमा हो सकता है। किन्तु सिक्का इसमें एक प्रधान कारण है, इसके सुधार से स्थिति

बहुत कुछ सुधर सकती है।

मगर यह तो कोरी बकवास हुई। आज कौन पूछता है? असल में तो होगा वही जो होर साहब या उनके जाँनशीन चाहेंगे।

"बूट डासन ने बनाया मैंने एक मज़मूं लिखा।
मुल्क में मज़मूं न फैला और जूता चल गया।"

खैर मज़मूं ही सही।

जुलाई, १९३४.

: ८ :

राड़ की जड़ हाँसी

"तीर कमनिया तरकसबन्द। भोजराज तुम मूसरचन्द।"

ऐसा जब किसी ने भोजराज महाशय से कहा तो पता नहीं भोजराजजी खिलखिलाकर हँस पड़े या जूता निकाल कर मारने दौड़े। मेरा तो खयाल है कि मारने दौड़े होंगे; क्योंकि हमारे यहाँ मज़ाक उड़ाना छिछोरपन है और उसे बर्दाश्त करना नामर्दी की निशानी है। इसलिए किसी दे कह दिया कि "रोग की जड़ खाँसी और राड़ की जड़ हाँसी"। कोई द्वेषवश अपमानित करे, या मारने को दौड़े तो झगड़ा होना समझ में आ सकता है; पर मज़ाक़ में भी झगड़ा हो यह भारतीय संस्कृति का दूषण ही मानना चाहिए। बाहरी देशों से आने वाले

लोग अक्सर कहा करते हैं कि भारतीय बालक भी गम्भीर मुखाकृति का होता है। फिर बड़े-बूढ़े का तो कहना ही क्या ? वे तो मानों बँधना-बोरिया बाँधकर आज शाम की ट्रेन से ही यमपुरी की यात्रा करने वाले हों, ऐसी मुखाकृति बनाकर बैठते हैं। कोई हँसता है तो बड़े-बूढ़े डाँट कर कहा करते हैं—"क्या ठीठी करते हो" !

हमारे साहित्य में भी हास्य-रस की अत्यन्त कमी पाई जाती है। शान्त या गम्भीर, करुणा, शृंगार आदि रस सभी साहित्यिक ग्रन्थों में अधिकता से मिलेंगे; पर हास्यरस तो यत्र-तत्र और सो भी स्वल्प मात्रा में।

इससे इतना तो साबित हो जाता है कि भारतीय संस्कृति ने हँसने की इजाजत नहीं दी। इतना ही नहीं इसकी सख्त मुमानियत मालूम होती है। किसी सन्त ने गाया "बालपना हँस खेल गँवाया" **"बालस्तावत क्रीड़ासक्तः"**। इसमें क्या जुर्म हुआ यदि बच्चे हँसें या खेलें ? क्या सन्त लोग यह चाहते थे कि लड़के रो-रोकर यह रट लगाया करते "जिवड़ा दो दिन का मेहमान"। जो संसार की क्षणभंगुरता का विचार करके रोते हैं, वे वैराग्यवान नहीं, कायर हैं। वैराग्य तो हमें सिखाता है, **"प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते"**।

कार्टून की कला योरोप में काफ़ी विकसित हो

चली है। जिनके कार्टून छपते हैं वे अभिमान से मन में फूले नहीं समाते। "हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली" में शंकर इस कला में अत्यन्त निपुण है। उसने आज तक किसी भी विशिष्ट व्यक्ति को अछूता नहीं छोड़ा। क्या वाइसराय और क्या दूसरे अफ़सर सबके कार्टून उसने बनाये और क़द्रदानी भी पायी। हर अफ़सर अपने-अपने कार्टून की कीमत दे-देकर खरीदता रहा है; पर एक मर्तबा किसी प्रतिष्ठित नेता ने मुझसे यह शिकायत की कि 'साहिब, आपका व्यंग्य-चित्रकार हमारा बड़ा मज़ाक़ उड़ाता है।' भविष्य के लिए उन महोदय का कार्टून बन्द कर दिया गया। इससे उल्टा यूरोप में लोग अपने कार्टून देखने के लिए बड़े लालायित रहते हैं। यद्यपि इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर इसके अपवाद हैं।

स्काच लोग बड़े कंजूस माने जाते हैं और लोग उनकी दिल्लगी भी खूब उड़ाते हैं। इसका प्रतिकार उन्होंने इस प्रकार किया कि वे लोग अपनी दिल्लगी खुद-ब-खुद उड़ाने लगे। किसी यहूदी ने कहा कि हम स्काच लोगों से ज्यादे कंजूस हैं, इस बात को स्काच साहब ने बड़े जोश के साथ अस्वीकार किया और कहने लगे कि ऐसा नहीं है। एक यहूदी की दूकान पर एक स्काच माल खरीदने गया था। स्काच को पहले ही सावधान कर

दिया गया था कि यहूदी दुगने दाम माँगा करता है इस-लिए मोल-मुलाई ठीक करना, ठगना मत। स्काच साहब सावधान तो थें ही। एक छाते की कीमत पूछी। यहूदी ने कहा—दश शिलिंग। इसपर स्काच साहब ने फर्माया, यह तो बहुत ज्यादा हैं, हम तो पाँच शिलिंग देंगे। यहूदी ने कहा–पाँच तो नहीं, पर तुम सज्जन मालूम होते हो, इसलिए छाता ८ शिलिंग में बेच दूँगा। इन्होंने तो पहले से ही गणित का मार्ग अख्तियार कर लिया था। इनसे कहा गया था कि यहूदी दूना दाम माँगा करता है, इसलिए वह जितना माँगता था स्काच साहब उससे आधा थामते थे। जब यहूदी पाँच शिलिंग पर पहुँचा तब तो स्काच महाशय २।। शिलिंग पर उतर चुके थे। यहूदी धीरज खो बैठा और उखड़कर बोला, "तुम तो पूरे मक्खीचूस मालूम होते हो। ले जाओ यह छाता मुफ्त में"। स्काच साहब विचार में पड़ गये; मामला टेढ़ा था, पर फिर भी गणित ने साथ दिया। झटपट उन्होंने फैसला कर लिया और बोले, "तो अच्छा एक नहीं, दो दे दो।" सुननेवाले लोग खिलखिला उठे। पर स्काच को सन्तोष हो गया कि उन्होंने अपनी जाति की कंजूसी का सिक्का श्रोताओं पर जमा लिया।

इसके विपरीत एक रोज कुछ मारवाड़ी सज्जनों की सभा में एक वक्ता महाशय बड़े गर्म थे और चिल्ला-

चिल्लाकर "मारवाड़ी निंदकों" की खबर लेते थे। किसीने कोष में मारवाड़ी शब्द का अर्थ "कंजूस" और "सूदखोर" कर दिया था। यही उनके क्रोध का कारण था। मैंने श्रोताओं से कहा भी कि ऐसी चीजों को ज्यादा महत्व नहीं देना चाहिए; क्योंकि आयरिश (Irish), ग्रीक (Greek), स्पैनियार्ड (Spaniard), काठियावाड़ी और पठान आदि सभी शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ बन गये हैं। पर श्रोताओं में तो हास्य-प्रेम की कमी थी; मारवाड़ शब्द का अर्थ कंजूस कोई कहे यह यहाँ तो असह्य था। ड्यूक आव विंडसर जब प्रिंस आव वेल्स थे तो अपने सहपाठियों के साथ रेल में साधारण बालकों की भाँति सफर करते थे। एक बार गाड़ी का कंडक्टर (Conductor) जब उनके डिब्बे के सामने से गुजरा तो जेब में से एक मटर निकालकर अंगुली से तानकर उन्होंने कंडक्टर के कान पर चुपके से दे मारी। कंडक्टर ने मुड़कर पूछा, "लड़को यह मटर किसने मारी"? किसी ने जवाब नहीं दिया तो कंडक्टर ने युवराज (Prince) के के चेहरे पर शरारत देखकर सोचा यह लड़का शैतान मालूम होता है और उन्हें दो-चार थप्पड़ जमा दिये। किसी जानकार ने कंडक्टर से कहा कि भावी सम्राट को पीटने के लिए उन्हें बधाई है। शायद कंडक्टर ने इस

घटना की अवहेलना की होगी। पर शाहज़ादे ने मज़ाक़ को मज़ाक़ में उड़ा दिया। यदि ऐसी घटना भारत में होती तो क्या होता, इसकी सहज ही कल्पना हो सकती है।

कोई हमसे द्वेष या घृणा करता है तो हमें रोष आ सकता है; क्योंकि चाहे हमारा ही ऐब हो, परन्तु हम अपने ऐब को भूलकर द्वेष करनेवाले पर रोष कर बैठते हैं। इसके विपरीत यदि कोई हमारी प्रशंसा करता है तो हम फूलकर कुप्पा बन जाते हैं। हालाँकि यह सोलह आना सच्ची बात है कि बड़ाई करनेवाला यदि सच्ची भी कहता है तो अतिशयोक्ति करता है, जो झूठ का ही दूसरा नाम है। यदि द्वेषी द्वेष से पीड़ित है तो चापलूस चापलूसी से। दोनों के दोनों निकम्मे हैं। अक्ल की कसौटी पर कसनें से दोनों त्याज्य हैं; फिर क्यों हम एक पर रोष करें और दूसरे पर प्रेम ? लोग धोखा खाते हैं और त्याज्य वस्तु को ग्राह्य मान बैठते हैं। पर मज़ाक़ करनेवाला न द्वेषी है न चापलूस और न पाखंडी। कम-से-कम मजाक के बारे में यह कहा जा सकता है कि मज़ा-किये का दिलबहलाव के सिवा और कोई ध्येय नहीं है और दिलबहलाव कोई बुराई नहीं। यदि आपकी तोंद मोटी है और आप रपटकर चारों खाने चित्त पड़ते या बीबी के हाथों से झाड़ू खाते देख लियें जाते हैं और

दर्शकों को यह दृश्य हँसी का लगता है तो बेचारों को हँसने दीजिए और आप भी हँसकर उन्हें सहयोग दीजिए। इसमें दोनों का भला है। रोग की जड़ चाहे खाँसी हो—यद्यपि मैं तो मानता हूँ कि रोग की जड़ ज्यादा खाना है—पर झगड़े की जड़ "हाँसी" को बताना यह कोरी मूर्खता है।

वसन्तपंचमी सं० १९९४

: ६ :

हीरा

वैसे तो मेरे जन्म के क़रीब पैंतीस साल पहले से हीरा हमारे यहाँ नौकर था, पर जब मैं तीन साल का हुआ तभी से मैं उसे पहचानने लगा। शायद इससे भी पहले मैं उसे पहचानने लगा होऊँ, पर उसकी आज मुझे कोई स्मृति नहीं है। इस हिसाब से मेरे लिए तो हीरा का जन्म उसी समय हुआ, जबकि मैं तीन साल का था हालाँकि हीरा मुझसे क़रीब ५२ वर्ष बड़ा था।

तो हीरा को जब मैंने पहले-पहल जाना उस समय मुझपर उसकी क्या छाप पड़ी यह बताना मेरे लिए टेढ़ा काम है। पर प्रयत्न करता हूँ तो मुझे फिर एक मर्तबा उस सुदूर और धुंधले अतीत में प्रवेश करना पड़ता है और

प्रवेश करने पर मुझे लगता है कि मैं एक ऐसे स्थान में पहुँच गया हूँ जहाँ चारों ओर केवल कुहरा-ही-कुहरा है। दस क़दम के बाद तो—यदि हम काल को भी क़दम से नापें तो—एक ऐसा गाढ़ पर स्वच्छ और धवल अंधकार है जो लाख कोशिश करने पर भी हमारे स्थूल और सूक्ष्म चक्षुओं को बिल्कुल अंधे बनाये रखता है। पर यदि हम एक क़दम भी आगे देखने का प्रयत्न करें तो सिवाय धुंधलेपन के और कोई चीज नज़र नहीं आती। जो चीज़ सामने—अत्यन्त सामने—खड़ी है उसे भी—जैसी है वैसी देखने के लिए—आँखें फाड़-फाड़कर एक टक देखता हूँ तो भी, उसकी रूपरेखा स्पष्ट नहीं दिखाई देती। ऐसे उस सुदूर अतीत में दृष्टि बेकार बन जाती है।

पर जो चित्र आँखों पर उस समय खिंच गया है वह एक ऐसे फोटू की तरह है जो किसी अनाड़ी चित्रकार ने खेंचा हो और जिसे खेंचने में न तो उस चित्रकार ने कैमरे की दृष्टि को ठीक एकाग्र (Focusing) किया हो और न रोशनी ही (Exposure) सही दी हो। हम लाख उस चित्र की रूपरेखा दुरुस्त करने की कोशिश करें, पर हमें उसमें कामयाबी नहीं होती। उस अतीत काल की स्मृति की एक ऐसे सपने से भी तुलना की जा सकती है जो जिस समय आता है उस समय तो साफ़-सुथरा—सामने मानो नाटक

खेला जाता हो और उस नाटक में हम भी अभिनय करते हों--ऐसा लगता है, पर आँखें खुलते ही स्मृति फीकी पड़ने लगती है। और जब हम संसार के कोलाहल और दिन की धक्कामुक्की में फँस जाते हैं तब तो वह चित्र हमारी आँखों से बिल्कुल ग़ायब हो जाता है।

बाल्यकाल के कच्चे दिमाग़ पर खिंचा हीरा का वह धुँधला सा चित्र। रूपरेखा सारी अस्पष्ट। और ऊपर से समय की रफ्तार की घिसावट।

समय की रफ्तार तो मानो रातदिन का अविच्छिन्न प्रपात। जिसने रही-सही रूपरेखाओं को और भी भूँठी बना दिया। पर हीरा का चित्र तो फिर भी सामने खड़ा ही रहा। और जो चित्र पहले-पहल अस्पष्ट रूप से दिमाग़ के पटल पर पड़ा वह फिर, ज्यों-ज्यों पटल-चित्र आगे चला, स्पष्ट बनता गया। और बाद के चित्र ने पहले के चित्र की रूपरेखाओं को स्पष्ट करने में सहायता पहुँचाई। इस तरह हीरा का चित्र सुस्पष्ट बन गया।

मैं बता चुका कि हीरा जब उसे मैंने पहले-पहल जाना तबतक ५२ साल का हो चुका था और क़रीब पैंतीस साल हमारे यहाँ नौकरी करते भी उसे हो गये थे। मैंनें बाद में सुना कि हीरा के माँ-बाप उसके अत्यन्त बचपन में ही मर गये थे और वह बचपन से ही हमारे यहाँ आकर

नौकरी करने लगा था। हीरा को अपने बाल्यकाल की कोई स्मति नहीं थी पर उसका ख़याल था कि उसके माँ-बाप सवत् १९०० के भयंकर दुर्भिक्ष में बिना अन्न के भूख के मारे मर गये थे।

संवत् १९०० और १९०१ ये दोनों साल अत्यन्त भीषण दुर्भिक्ष के थे। सुना है इन दोनों सालों में राजपूताना में लाखों मनुष्य बिना रोटी कुत्ते की मौत मर गये। चूंकि ये दोनों दुर्भिक्ष एक के बाद एक सटे आये इसलिए लोगों ने इनका नाम "सैया" और "भैया" रखा। संवत् १९०० के दुर्भिक्ष का नाम पड़ा "सैया" और संवत् १९०१ के दुर्भिक्ष का नाम पड़ा "भैया"। इनकी भीषणता का ख़याल दिलाने के लिए लोग आज भी पुरानी गीतिका "**चाकी चाले रे सैया, माणस बोले रे भैया**" गाते हैं। अर्थात् सैया और भैया की भीषणता के बाद "चक्की चलती है या तो मनुष्य अब भी बोल रहे हैं" ऐसा कथन भी आश्चर्यकारक माना गया। हीरा का ख़याल था कि इन्हीं अकालों में उसके माँ-बाप मर गये।

और सुना कि हीरा की नौकरी पहले-पहल केवल एक रुपया माहवार मात्र थी। पर जब मैंने उसे जाना तब तो एक रुपया, और खाने को रोटी और पहनने को कपड़ा भी मिलने लगा था। शादी तो हीरा ने की ही नहीं। माँ-

बाप थे ही नहीं। इसलिए हमारे कुटुम्ब को छोड़कर हीरा के लिए और कोई ममत्व का स्थान नहीं रह गया था। हमारे कुटुम्ब को ही उसने आश्रय का स्थान माना और अंत तक ऐसे ही मानता रहा।

जब मैंने पहले-पहल हीरा को देखा तब वह साठी के नज़दीक पहुँच रहा था। बाल उसके किरड़काबरे हो चले थे। पर हीरा के मन में बुढ़ापे ने प्रवेश नहीं किया था। उसे अपने व्यक्तित्व का तो अभिमान था ही, उत्साह, उमंग और आशा की भी उसमें कमी नहीं थी।

हमारे यहाँ उस जमाने में दो ऊँट थे। अकस्मात् प्राय: एक ऊँट काले रंग का रहता था और एक सफ़ेद रंग का। काले को हम लोग काळिया ऊँट और सफ़ेद को धोळिया ऊँट कहते थे। हीरा का ऊँटों का प्यार यह वर्णनातीत वस्तु है। उसकी थाह तो हीरा को ऊँटों की सार-सम्हाल करते जिन्होंने देखा है वे ही जानते हैं। पर मैंने यह देखा कि उन दो ऊँटों में हीरा का ममत्व धोळिये पर ज्यादा रहा करता था। इसका कारण भी था। धोळिया ऊँट, और यह भी अकस्मात्, प्राय: तेजस्वी और आकरे स्वभाव का होता था। और हीरा को इसका खूब गर्व था। क्योंकि ऐसे ऊँट हर टोले में नहीं जन्मते थे। हीरा का ऊँट और ऊँटों से कुछ भिन्न है, उसकी अपनी अलग शान है, यह प्रकट

करने में हीरा कभी नहीं चूकता था। इसलिए वह जब ऊँट पर सवार होता था तो बेतकल्लुफ़ी से नहीं। शायद उसने माना हो कि ऐसा करना यह धोळिये जैसे प्रतिष्ठित ऊँट के लिए अपमान होगा। इसलिए ऊँट पर चढ़ने से पहले गाढे का पाजामा, और नैनसुख की, और यदि जाड़े का मौसिम हो तो रूईदार, कमरी, पाँवों में चोबदार जरी की मोचड़ी, एक पाँव में चाँदी का छैलकड़ा और ताँती, कमर में तलवार और बगल में सींगसाज--इन सब चीज़ों से सिंगर कर ही हीरा ऊँट पर चढ़ता था। और सींगसाज भी पूरे दुरुस्त। कूँपी में बारूद, बटुए में पटाखा और दूसरे बटुए में शीशे की दस बीस गोलियाँ। बंदूक भरी। सिर्फ़ दागने भर की देर। दाढ़ी बीच में फाँटकर, आधी एक कान पर से और आधी दूसरे कान पर से, और कान के इर्दगिर्द अढ़ाई आँटे (यह माप भी हीरा ने बतलायी थी) देकर बाँधी हुई। कानों में सोने की बीरबळी और गले मे हनुमानजी की मूर्त्ति की सोने की तख्ती। दाढ़ी पर जाड़िया। सिर पर साफ़ा। और साफ़े पर चद्दर का दुमाला मारे हुए।

इस साजबाज के साथ हीरा की शक्ल एक योद्धा की सी लगनी चाहिए थी। पर अफ़सोस! हीरा का कद ठिंगना था। शरीर हल्का। इसलिए लाख कोशिश करने पर भी

हीरा ज़रासा "माणस" लगता था। और ऊपर से यह दूसरा अफ़सोस कि हीरा राजपूत न था!! जाट था। हीरा अपनी जात को बाहर अनजाने लोगों के सामने छिपाता भी था। पर लोग ताड़ जाते थे। इसका हीरा को दुःख था। पर तो भी अपनी शान बताने में हीरा को कभी आलस्य नहीं होता था। और इस वेशभूषा से सजने का भी शायद यही कारण था कि हीरा अपने गर्व को छिपाना नहीं चाहता था। पर एक बात का हीरा का गर्व बिल्कुल सही था। उसके पास ऐसा ऊँट था—और विशेष-कर के धोळिया ऊँट—जैसा चोखळे भर में ढिंढोरा फेरने से भी मिलना असम्भव था। इसलिए हीरा जब ऊँट पर चढ़ता था तब वह सातवें आसमान में पहुँच जाता था।

वैसे तो धोळिया ऊँट हज़ारों में भी नहीं छिप सकता था। पर ऊँट की ख्याति छिपी न रह जाय इसके लिए हीरा अहर्निश सावधान रहता था। इसलिए जब ऊँट पर चढ़ने का समय आता था तब तो हीरा के लिए सवारी एक असाधारण कृत्य बन जाता था। ऊँट की गोडी बाँध कर जब वह कूँची कसनें की तैयारी करता था तो पहले ऊँट का मिज़ाज गरम करने के लिए वह ऊँट पर दो बेंत ज़ोर से फटकार ही देता था। बस इतना किया कि ऊँट ने शुरू किया अरड़ाना। यह तो मानो लोगों को इकट्ठा

करने का आह्वान था। सटक-सटक काम छोड़-छोड़कर लोग हीरा के इर्द-गिर्द आ जमते थे। क्योंकि हीरा का ऊँट पर चढ़ना यह एक देखने लायक दृश्य होता था। ऊँट भी तो लाजवाब था। ऊँट की पीठ पर पान कटे हुए। उसके पहनने को नया मोहरा और बेलचा। उसके गले में कौड़ियों की पट्टी। नाकों में चाँदी की बाली और गिरबाण। कूँची के थड़े बनाती। पागड़े पीतल के, ऊपर लाल मजीठ की खोली चढ़ी हुई। पूँछ बँधी हुई। कूँची पर सफ़ेद स्वच्छ गद्दी।

इस शान का ऊँट। और वह शान हीरे की। और ऊपर से वह सजावट।

जब कूँची माँडी जा चुकती थी तब हीरा ऊँट को ठोकर मारकर खड़ा करता था। इसपर तो ऊँट और भी उग्र हो उठता था। अरड़ाना तो ज़ोरों के साथ जारी था ही। उधर मींगणे और तरड़ा फेंकना भी बेतरह शुरू हो जाता था। होहल्ला सुनके गाँव के और भी लड़के आ जमते थे। यह सब क्रिया हो चुकने पर हीरा ऊँट को गाँव के बाहर ले जाकर सवार होता था। एक आदमी ऊँट की गोडी दबाकर हीरा को सवारी करने में सहायता देता था। हीरा सवार हुआ कि ऊँट फलाँग मार कर ज़ोर से उछलता था।

उस समय हीरा का अभिनय तो कमाल का था। एक तरफ तो ऊँट को मानो वह किसी जिद्दी, अड़ियल, उग्र लड़के को शांत करता हो, इस तरह प्यार से सम्बोधन करता था। दूसरी ओर नकेल खेंच कर ऊँट को रोकता था। तो तीसरी ओर ऊँट को छिपी ठोकर मार कर उसे दौड़ने के लिए उकसाता था। इन तीन परस्पर विरोधी क्रियाओं का ऊँट पर तो एक ही असर पड़ता था। आखिर ऊँट तो पशु ठहरा, और सो भी गँवार पशु। तो फिर हीरा के दुलार के सम्बोधन को ग्रहण करना उसके मस्तिष्क के बित्ते के बाहर की बात थी। हीरा इसे शायद जानता भी था, पर हीरा की भाषा तो दर्शकों के लिए थी, और ठोकर ऊँट के लिए। मोहरी खेंचने का तात्पर्य यह था कि लोग समझें कि ऊँट हीरा के लाख शान्त करने पर भी उड़ जाना चाहता है और हीरा जैसा उस्ताद चाबुक-सवार ही इसकी पीठ पर टिक सकता है।

पर इसके माने यह नहीं कि हीरा कोई साधारण सवार था, या तो उसका ऊँट कोई साधारण ऊँट था। क्योंकि हीरा ने कई बेर सुबह से शाम तक साठ कोस की मंजिल आसानी से तय की थी।

और जितनी हीरा की चाबुक सवारी, उतना ही उसका भूगोल का ज्ञान। हीरा दो-चार मर्तबा तो पिलाणी

से अहमदाबाद तक ऊँटपर ही जा चुका था। पर दो बेर जानें मात्र से तो किसी को रास्ते का पूरा ज्ञान नहीं हो जाता। पर हीरा की यह ख़ूबी थी कि पिलाणी से अहमदाबाद पहुँचने में कौन-कौन से गाँव से गुज़रना पड़ता है, यह सब भूगोल सविस्तर पचास साल के बाद भी, उसकी जीभ के अग्रभाग पर जमा पड़ा था। सौ-सवा सौ कोस की परिधि में तो ऐसा कोई शहर या गाँव नहीं जिसके पहुँचने के रास्ते का ज्ञान हीरा को न हो। "यहाँ से दो कोस पर फलाँ गाँव, उसे बाँयें छोड़ देना। फिर फलाँ जोहड़ आ जायगा। उसके बाद एक कुँआँ, फिर एक ऊँची भर..." यह हीरा का रास्ते बताने का तरीक़ा था। हीरा जहाँ नहीं गया वहाँ उसने सुनकर उस स्थान का भूगोल जिह्वाग्र कर लिया था। इसी तरह हीरा बहुश्रुत भी बन गया था।

पर हीरा के दिल में एक तमन्ना थी। उस जमाने में चोर-धाड़ियों का ख़ूब उपद्रव था। हीरा चाहता था कि कभी उसकी धाड़ियों से मुठभेड़ हो। हीरा का ऊँट तो हवा से बातें करनेवाला था ही। उसकी बन्दूक भी हाजिर-जवाब। घोड़ा दबाने भर की देर थी। लोग कहते थे कि हीरा का शरीर चाहे छोटा हो पर उसकी बंदूक कभी धोखा नहीं देगी। हीरा का दावा यह था कि वह एक चुस्त निशानेबाज़ है। पर उसने निशाने मारने के लिए एक

बड़े घड़े से—जो २–३ फीट लम्बा चौड़ा हो—छोटे निशान का कभी उपयोग नहीं किया। और हीरा निशाना मारने के लिए भी तो १०–१५ क़दम पर ही बैठता था। और जब गोली की चोट से घड़ा चूर-चूर होजाता था तब तो हीरा मुलकता हुआ उठकर सब की तरफ़ गर्व से ताकता था मानो कहता हो "बताओ है कोई ऐसा निशानेबाज ?'

और एक दिन कुछ बंदूकचियों से उसने बाजी मार भी ली। हीरा ने अपने साथियों को ललकार दी कि निकाले कोई लोहे के कड़ाहे में से गोली। यह करतब न तो निशाने की अचूकता का द्योतक था न हीरा की ताक़त का प्रमाण। पर लोगों ने इस चुनौती को झेला। दंगल में हीरा की गोली तो दनदनाती हुई लोहे के कड़ाहे को छेक गयी। औरों की गोलियाँ चिपटी होकर कड़ाहे से टकरा कर गिर गयी। प्रतिपक्षियों के चेहरे उतर गये। हीरा की छाती फूलकर सवागज चौड़ी हो गयी। कहनेवालों ने हीरा के विरुद्ध विश्लेषण करने की कोशिश की पर इतना तो साबित हो गया कि हीरा की बंदूक पूरी फरमाबरदार है और मौके पर काम देगी। हीरा में आत्मविश्वास की कमी तो थी ही नहीं। ऊँट और बंदूक इन दो के जोर पर हीरा यह मिन्नतें मनाता था कि उसे डाकू मिलें। और अंत में

डाकू मिले भी। पर हीरा की हार हुई। पर जिन दो चीज़ों पर हीरा का विश्वास था उन्होंने दग़ा नहीं दिया गीता में कहा है :—

"अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥"

हर काम में क्षेत्र, कर्त्ता, भिन्न-भिन्न क्रियाएँ, और पाँचवाँ दैव, ये पाँच हेतु होते हैं। मालूम होता है कि इन साधनों में से कइयों ने तो हीरा के ख़िलाफ़ षड्यंत्र ही कर लिया था कि उसका मान-मर्दन हो।

बात थी भिवानी के रास्ते की। कलकत्ते से एक सज्जन आ रहे थे जो बीमार थे। उन दिनों पिलाणी का रेलवे स्टेशन था भिवानी। ये सज्जन भिवानी उतरनेवाले थे और वहाँ से उन्हें पिलाणी आना था। हीरा को भेजा गया उन्हें भिवानी से पिलाणी ले आने के लिए। भिवानी ठहरा अंग्रेज़ी इलाक़े में। इसलिए बिना पास कोई हथियार नहीं ले जा सकता था। हीरा ने लाख कोशिश की कि बंदूक का पास मँगा लिया जाय। पर सब लोगों ने कह दिया "क्या डर है, ऐसे ही चले जाओ।" बंदूक हीरा की विश्वस्त संगिनी थी। वह उसे छोड़कर अकेला नहीं जाना चाहता था। पर लाचारी।

हीरा बिना बन्दूक के गया सही, पर उसका मन

उन्मना था। हीरा ने पीछे बताया कि जब वह सवार होकर भिवानी की ओर चला तब रास्ते में उसे बिना तिलक-छापवाला ब्राह्मण मिला। खुले केशवाली स्त्री, सो भी विधवा, मिली। घड़ेवाले के पास घड़ा रीता था। सोनचिड़ी बाँएँ आ बैठी, गदहा दाहिना बोला। हरिन दाहिने से बाँएँ की ओर निकल गया। और एक सुनार भी तो मिला!! पर कर्तव्यवश हीरा ने इन सबकी अवहेलना की।

हीरा भिवानी पहुँचा और उन सज्जन को सुबह गज़रदम ऊँट पर पिछले आसन पर बैठाके पिलाणी की ओर चला। हीरा का कहना था कि भिवानी से चला तब भी सारे अपशकुन हुए और बाँयाँ अंग भी फड़का। सुबह पौ फटते-फटते तो हीरा इन्दोखळे जोहड़े के पास पहुँचा और उसने देखा कि सात ऊँट, उन पर चौदह जवान, सबके पास बड़े-बड़े लट्ठ, हीरा के ऊँट को चारों ओर से घेर रहे हैं। हीरा ने देख लिया कि दाल में काला है। पर तो भी उसने ललकारकर डाकुओं से कहा : "भाई के लालो, मन्शा तुम्हारी खराब मालूम होती है।" उन्होंने कहा: "हमारे ऊँट खो गये हैं। उनकी खोजों के पीछे हम आये हैं।" हीरा को विश्वास नहीं हुआ। पिछले आसन पर बैठे सज्जन से हीरा ने कहा: "भरोसा एक ही है वह है

मेरा ऊँट। एड़ मारने भर की देर है, फिर तो ऊँट उड़ेगा। आप सावधान होकर मेरी पीठ से चिपक जाइए और मैं ऊँट को टिचकारी देता हूँ। इस ऊँट को कोई नहीं पहुँच सकता।" पर पीछेवाले सज्जन ने कहा : "हीरजी, मैं इतना बीमार हूँ कि ऊँट ने जरा तेजी दिखाई कि मैं धम से नीचे गिरूँगा। इसलिए मेरे प्राण जायँ इससे तो बेहतर है कि हम लुट जायँ।"

हीरा ने देख लिया कि बस होनहार बलवान है। उसने अपना लट्ठ सम्हाला। ऊँट पर से कूदा और ललकारा डाकुओं को ही। हीरा का बित्ता ही क्या था! छोटा-सा शरीर। उसने लाठी का वार किया एक दो लाठी चलाई भी, पर दो-एक लट्ठ हीरा के सर पर लगे कि हीरा ज़मींदोज़ हो गया। डाकू ऊँट ले गये।

हीरा के सदमे का क्या ठिकाना? बंदूक पीछे रह गई। ऊँट धाड़ी ले गये।

जब तक हीरा ज़िन्दा रहा तब तक इस रासे को वीर और करुणा में वर्णन करता ही रहा। इस कथा को कहते-कहते हीरा रो भी देता था। पर वह कभी थकता न था। क्या तमन्ना थी और कैसा हुआ अंत! हीरा का दिल टूक-टूक हो गया। हीरा फिर भी ऊँटों पर चढ़ा। बंदूक भी लटकाई। पर उसका दिल तो टूट चुका था। लोग

भी तो ताना मारने से कहाँ बाज आते थे ? पर हीरा को रह-रह कर यह पछतावा होता था "मैंने बन्दूक साथ क्यों न ली ? मैंने ऊँट को टिचकारी क्यों न दी ?"

इसके बाद हीरा कुछ ही साल और ऊँट पर चढ़ा। वैसे भी साठी पार कर चुका था। और ऊपर से यह प्रतिष्ठा का भंग। इस घटना के बाद भी ऊँटों पर कई बेर वह भिवानी गया आया। पर उदासी के साथ। जब जब वह इन्दोखळे जोहड़े में से निकलता था तो अपना बखान करते-करते वह रो देता था। वह लाख लोगों को समझावे पर हीरा ने शिकस्त खाई, इस कथना को कौन मेट सकता था ? हीरा कवि न था, पर इन्दोखळे जोहड़े की तरफ़ मुहँ करते ही उसका दिल कह देता था :—

मत नाव उधर ले जा माँझी, उस घाट को मैं पहचानता हूँ।
फूँकी थी वहीं पर मैंने चिता, अपनी मरहूम तमन्ना की ॥

हीरा ने समझ लिया कि अब ऊँटों की सवारी में कोई लुत्फ़ नहीं। और हीरा ऐसा आदमी भी नहीं जो अपने क्षेत्र में स्वल्प श्रेष्ठ होकर रहे। वह तो था गर्वीला। सर्वश्रेष्ठ होकर ही रहना चाहता था। **"अबतक तो जिस जमीं पर रहे आसमाँ रहे।"** इसलिए हीरा ने अब अपना क्षेत्र बदलना निश्चय किया। धीरे-धीरे उसने ऊंटों का ममत्व और जिम्मा छोड़ दिया। एक रोज अचानक देखा

गया कि हीरा ने दाढ़ी और पट्टे दोनों सफ़ा करवा डाले। धीरे-धीरे उसने योद्धा का स्वांग छोड़ना शुरू कर दिया।

हीरा था बड़ा मितव्ययी। साठी पार करने तक तो उसके पास पाँच सौ की पूँजी जुट गई थी। एक रुपया माहवार की आमद पर भी वह पूंजीपति बन गया था। पर हीरा दिल का भी तो था शार्दूल। इसलिए उसने अब अपना ख़ज़ाना खाली करने का प्रण कर लिया। कान की बीरबळी और पाँव के चाँदी के कड़ों से उसने दान का श्रीगणेश किया। फिर तो धीरे-धीरे अपनी और पूँजी भी लुटाने लगा और अन्त में उसने अपना सारा कोष खाली कर दिया। पर इस बीच में तो हीरा की नौकरी १ रुपया माहवार से २ रुपया माहवार हो गई। और इनाम भी समय-समय पर मिलता था। इसलिए हीरा फिर पूँजीपति बनने लगा। पर हीरा की तमन्ना अब केवल इतनी ही थी। वह थी कर्ण-सा दानी बनने की। हीरा की व्यवस्था और मितव्ययता इस आला दरजे की थी कि उसके पास पचास साल पहले के अपनें कपड़े, कम्बल, चद्दर, अंगरखी, इनाम में पाया हुआ शाल, हाथों की सोने की चूड़—ये सब चीज़े ज्यों की त्यों मौजूद थी। पचास साल पहले के दो एक बेंत भी ज्यों के त्यों सुरक्षित थे।

हीरा के रहने की एक कोठरी थी जिसे हम लोग

हीरा की कोठरी कहते थे। उस कोठरी की लम्बाई ६ फीट, चौड़ाई ३ फीट और ऊँचाई कुल ६ फीट थी। जगह का अभाव न था, पर हीरा ने इसी कोठरी को अपना स्थायी स्थान बनाया। और यह कोठरी क्या थी, गागर में सागर था। व्यवस्था का एक जीता-जागता चित्र था। इस कोठरी में खूँटियों पर बाक़ायदा हीरा के हथियार लटकते रहते थे। एक खटिया थी। उसके नीचे हीरे के तमाम कपड़े, उसकी तमाम पोशाकें थी। न मालूम और कितना सामान था। हीरा ने धीरे-धीरे अब अपनी तमाम पुरानी चीज़ों का भी दान करना शुरू कर दिया। और एक-एक करके हीरा ने अपने कपड़ों की बुगची में से सब कपड़ों को वितरित कर दिया। सोने की तख्ती भी दान में दे डाली। अब हीरा के पास केवल पहनने भर के कपड़े रह गये।

इतना हुआ पर हीरा की सजावट में कोई फ़र्क़ नहीं आया। पहले योद्धा का स्वाँग सजता था और अब साधारण नागरिक का। पर वही पुरानी स्वच्छता, वही दिन में दो बार नहाना, वही दो बार कपड़े बदलना। कपड़े धोने की कला तो हीरा को हस्तामलकवत् थी। इसलिए सफ़ाई में हीरा से कोई बाज़ी मार ही नहीं सकता था। धुलाई में उसकी शोहरत यहाँ तक फैल गयी

थी कि जब कोई बेशक़ीमती शाल धुलाना होता तो वह हीरा के सुपुर्द किया जाता था।

तो हीरा ने फिर दूसरी बार कोष खाली करना शुरू किया और अन्त में सब कुछ दे ही तो डाला।

बुढ़ापा तो आता ही जाता था। अब तो हीरा ने सत्तर पार कर लिया था। आंखों की ज्योति कम हो चली थी। हीरा ने अब माला हाथ में ले ली। पर शाम को जब टहलने निकलता था तब कुछ तो सजावट रहती ही थी, हाथ में माला और बेंत भी रहते थे। कंधे पर एक स्वच्छ गमछा। दूसरे कंधे पर, गर्मियों में, धुली हुई कमरी पड़ी रहती थी जो यह बताती थी कि हीरा के पास कमरी है पर गर्मी की वजह से वह उसे पहनता नहीं है।

हीरा की पूँजी फिर बढ़ने लगी और दान भी बढ़ने लगा। दिन बीतते जा रहे थे। अब हीरा अस्सी पार कर गया। शक्ति धीरे-धीरे घटती जा रही थी।

उन दिनों की जब मैं याद करता हूँ तो हीरा का एक ही चित्र मेरी आँखों के सामने आता है। स्वच्छ कपड़े पहने, हाथ में माला लिये, हीरा हवेली के गोखे पर बैठा है और राम राम कर रहा है। हीरा का अब किसी चीज़ में ममत्व नहीं रहा। पर इन्दोखळे जोहड़े की धाड़ को हीरा भूल नहीं सका। और न वह भूला धोळिये ऊँट को। यदि कोई

इसकी चर्चा कर देता था तो हीरा एक बेर माला को ताक पर रखकर उस पुराने रासे को रस के साथ वर्णन करते-करते उसमें तल्लीन हो जाता था। पर इस चर्चा को छोड़ उसे और कोई चीज़ में ममत्व नहीं रहा। और माला तो उसकी दिन रात चलती ही थी। अब हीरा ने देख लिया कि अंत आगया। ऊँटों की कई यात्रायें हीरा ने की थी। अब उसकी जीवन-यात्रा का भी अंत हो चला था ऐसा जानने में हीरा को कोई कठिनाई नहीं हुई। चौरासी साल तक हीरा ने अपने भौतिक शरीर में वास किया। एक दिन हीरा ने अपना जीवित श्राद्ध करके फिर तीसरी बेर अपना कोष खाली कर दिया और उसके कुछ ही दिन बाद चल बसा।

क्या शान की ज़िन्दगी हीरा ने बसर की! हीरा का न कोई रासा है, न कोई महाभारत है। पर हीरा का शौर्य किस वीर से कम रहा? अभिमन्यु की शोहरत इसलिए फैली कि वह अकेला व्यूह में घुस गया और वीरोचित मृत्यु का उसने आलिंगन किया। पर हीरा भी तो अकेला चौदह से लड़ा। यदि जीता नहीं तो इसमें हीरा का क्या दोष?

और दान में भी तो कर्ण से क्यों कम? कर्ण का महाभारत में बड़ा स्थान है। और हीरा का कोई ग्रंथ नहीं बना इसी बुनियाद पर हीरा परख में कम नहीं उतर

सकता। तीन बार हीरा ने अपना खजाना खाली कर दिया। यह उदारता कर्ण से किस बात में कम उतरती थी ? और हीरा की वफ़ादारी तो लाजवाब। बड़े-बड़े श्लोकों से भरे ग्रंथों से चौंधिया जाने से यदि हम इन्कार करें तो मैं कहूँगा कि हीरा का शौर्य, उसकी दान-शूरता और उसकी वफ़ादारी बेमिसाल चीज़ें हैं।

हीरा मर गया। उसकी छोटी-सी स्मृति हरपाणे जोहड़े में एक कूई और एक कोठरी के रूप में आज भी खड़ी है। बड़े-बड़े स्मारकों के सामने यह तुच्छ यादगार नाचीज़ है। पर इसके पीछे जो शान है उसकी भी तो कोई वक़त है ? यदि इस यादगार में जिन्दा जबान होती तो वह कह उठती :

"यहाँ सोता है एक तुच्छ प्राणी
जिसका शरीर था रूपे का,
जिसका सर था सोने का,
और जिसका दिल था हीरे का।"

जनवरी १९४१
